

भारतीय साहित्य के निर्माता

प्रभाकर माचवे

राजेन्द्र उपाध्याय

प्रभाकर माचवे

भारतीय साहित्य के निर्माता

प्रभाकर माचवे

राजेन्द्र उपाध्याय



साहित्य अकादेमी

Prabhakar Machave : a monograph on modern Hindi writer by Shri Rajendra Upadhyaya, Sahitya Akademi, New Delhi (2004). Rs. 25

प्रथम संस्करण : 2004 ई.

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय
रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय
172, मुंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुंबई 400 014
जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23 ए/44 एक्स.,
डायमंड हार्बर रोड, कोलकाता 700 053
सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. बी. आर. आंबेडकर वीथी, बंगलौर 560 001

चेन्नई कार्यालय
मेन बिल्डिंग, गुना बिल्डिंग्स (द्वितीय तल), 443(304),
अन्नासालइ, तेनामपेट, चेन्नई 600 018

ISBN 81-260-1912-3

मूल्य : 25 रुपये

शब्द संयोजक एवं मुद्रक : नागरी प्रिंटर्स, दिल्ली-110032

विषय सूची

जीवन वृत्त

बहुभाषाविद्, भाषाओं के सेतु, कवि, कथाकार, निबंधकार, आलोचक, अनुवादक डॉ. प्रभाकर बलवंत माचवे का जन्म लश्कर, ग्वालियर के छत्री बाजार में एक पाटोर (पत्थर की छतवाले) घर में, ग़रीब परिवार में 26 दिसंबर 1917 को अपने माता-पिता की चौदहवीं संतान के रूप में हुआ। उनकी दो बड़ी बहनें बचपन में ही विधवा हो गई थीं—एक तो बाद में पागल ही हो गई थी। पिता का नाम बलवंत विट्ठल माचवे था, इसलिए प्रभाकर माचवे उनका नाम जोड़कर अंग्रेज़ी में अपना नाम पी.बी. माचवे यानी प्रभाकर बलवंत माचवे लिखा करते थे। पिता रेलवे से रिटायर होकर ग्वालियर रियासत में डाकख़ाने में काम करते थे। पिता ग़ुस्सैल और बदज़ुबान थे। प्रभाकर जब आठ वर्ष के थे, तभी पिता काफ़ी कर्ज़ छोड़कर गुज़र गए। माता को अपना नाम भी नहीं मालूम था—माचवे माँ को तुकाराम, ज्ञानेश्वर, रामदास और श्रीधर पढ़कर सुनाते थे। माता लक्ष्मीबाई ने प्रभाकर का लालन-पालन किया। पिता संस्कृतप्रेमी, अनुशासनप्रिय और माँ निरक्षर, मगर धार्मिक थी। पिता ने संस्कृत व्याकरण और शारीरिक व्यायाम पर कड़ा ज़ोर दिया। प्रभाकर के पूर्वज अहमद नगर (महाराष्ट्र) के वालकी गाँव के थे। संत ज्ञानेश्वर (1217-96) की माँ माचवे घराने की थी। वहाँ का शिवजी का मंदिर 'माचवे' लोगों ने बनाया था। इस गाँव की यात्रा पर माचवे ने *धर्मयुग* 25 दिसंबर 1975 में 'अपने पुरखों की खोज में' एक लेख लिखा, जिसमें उन्होंने लिखा था कि माचवे 'मचवा' (छोटी नाव) या 'मछुए' का ही अपभ्रंश है। तीन पीढ़ी पहले ये लोग मध्यप्रदेश आ गए। पढ़ाई-लिखाई बचपन में घर पर ही हुई। बचपन जबलपुर के पास मदनमहल में गुज़रा। माँ जबलपुर के ज्योतिषी परिवार बेलापुरकर से थी। मामा भी ज्योतिषी थे। पाँचवी जमात में रतलाम के दरबार हाईस्कूल में दाख़िला लिया। बड़े भाई काशीनाथजी यहाँ गणित पढ़ाते थे। रतलाम के त्रिवेणी कुंड में पाँच बरस की उम्र में डूब ही जाते, अगर माँ न बचाती, तबसे तैरना सीखने की बहुत कोशिश की, पर नहीं सीख पाए, तबसे पानी से डरते रहे। तेरहवें (1930 में) बरस में मैट्रिक परीक्षा पास की। क्रिश्चियन कॉलेज, इंदौर से 17 वर्ष की उम्र में बी.ए. किया, वहाँ *बाइबल* पढ़ना अनिवार्य था। इंदौर प्रार्थना समाज में कई धर्मों का अध्ययन किया तब यहाँ कई विदेशी-कनेडियन-ईसाई अध्यापक थे। इसलिए उनका विभिन्न धर्मों के समन्वयवाला धर्मनिरपेक्ष स्वरूप बना। 19 बरस की आयु में नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा से

साहित्यरत्न किया। दो साल एल.एल.बी. में ख़राब करने के बाद आगरा कॉलेज से दर्शनशास्त्र में एम.ए. प्रथम श्रेणी में प्रथम पास किया। 'काव्य में रहस्यवाद' नामक यह निबंध वर्षों तक हिन्दी साहित्य संस्थान, इलाहाबाद में सुरक्षित रखा गया। इसको सर्वाधिक अंक देने की बात महाप्राण निराला ने *चाबुक* पुस्तक में 'नंददुलारे वाजपेयी' शीर्षक निबंध में लिखी है। 'काव्य में रहस्यवाद' नामक यह निबंध बाद में *कल्पना* में और फिर माचवेजी के शोधप्रबंध 'हिन्दी-मराठी निर्गुण संतकाव्य' (चौखंबा, वाराणसी, 1963) में छपा है। इसे लिखा 1953 में, पर 1958 में इसी पर पी-एच.डी. डिग्री प्राप्त हुई। इंदौर में ही सभाओं-जुलूसों-वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में भाषण देने की लत पड़ी, जो बाद में देश-विदेश में बहुत काम आई।

इंदौर में कुछ समय तक राष्ट्रीय मज़दूर संघ से जुड़े रहे। इसके अध्यक्ष सांसद श्री वी.पी. द्रविड़जी के साथ सचिव का काम किया। मज़दूरों के बीच काम किया। 1937 से 1948 तक उज्जैन के माधव कॉलेज में व्याख्याता रहे। यहीं रहते अंग्रेज़ी में एम.ए. किया।

1934 में सत्रह वर्ष की उम्र में खंडवा में माखनलाल चतुर्वेदी के संपर्क में आए। वे तब *कर्मवीर* के संपादक थे। उन्होंने पहली कविता और पहला गद्य (रेखाचित्र) छापा। हरिकृष्ण प्रेमी और रामवृक्ष बेनीपुरी उनके सहायक संपादक थे। प्रभागचंद शर्मा ने *आगामी कल* में लिखवाया। रामवृक्ष बेनीपुरी ने *गेहूँ और गुलाब* पुस्तक में भावविभोर शब्दों में लिखा है कि कैसे उन्होंने 1934 में बंबई में कांग्रेस अधिवेशन में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अंग्रेज़ी भाषण का हिन्दी अनुवाद करने में शरद पूर्णिमा की रात में प्रभाकर की मदद ली। इस सम्मेलन में उपन्यास सम्राट प्रेमचंद से मुलाक़ात हुई। 1938 में क़ाज़ी नज़रुल इस्लाम की 'विद्रोही' कविता का बाङ्ला से मराठी में अनुवाद किया और *सह्याद्रि* में प्रकाशन कराया। 1973 में *अग्निवीणा* के इस विद्रोही कवि से देहांत से कुछ समय पहले ढाका में मिलने गए, तब कवि गूँगे थे। बोल भी नहीं पाते थे।

1935 में *हंस* में प्रेमचंद ने पहली कहानी प्रकाशित की। 1936 में निराला ने *सुधा* में पहला निबंध 'काव्यकला में मनोविज्ञान' पहले स्थान पर छापा। रूपनारायण पांडेय ने 1936 में ही *माधुरी* में 'वह विक्षिप्त दार्शनिक नीत्शे' छापा। हिन्दी में नीत्शे पर यह शायद पहला लेख है। *हंस* के 'रेखाचित्रांक' में जैनेन्द्र कुमार पर लिखा रेखाचित्र काफ़ी पसंद किया गया। 40 से 43 के बीच मज़दूरों के जीवन पर दस कहानियाँ *संघर्ष* में छपीं। 'अज्ञेय कितने ज्ञेय हुए' भी *हंस* में ही छपा था, जिसे बाद में अज्ञेय ने अपनी *संपूर्ण कहानियाँ* के दो खंडों में फिर प्रकाशित किया। महादेवी वर्मा ने *चाँद* में 'अश्रुमती गौतम' कहानी छापी। 1938 में यशपाल ने *विलय* में कविताएँ प्रकाशित की। शांतिप्रिय द्विवेदी ने *वीणा* के कई विशेषांकों में प्रभाकर की मदद ली।

नलिन विलोचन शर्मा ने 1946 में *कविता* में कुंभ मेले पर कविता छापी। 'कला अंक', 'रोम्यां रोलां अंक' की पूरी की पूरी सामग्री प्रभाकर ने लिख दी। यह क्रम बाद में भी जारी रहा। 1956 में साहित्य अकादेमी ने महात्मा बुद्ध संबंधी 14 हज़ार पुस्तकों की प्रदर्शनी लगाई गई। इस अवसर पर *नेशनल हेराल्ड* के लिए अंग्रेज़ी में बुद्ध पर रातोंरात चार पन्नों का पूरा का पूरा परिशिष्ट लिख दिया। इक़बाल शताब्दी में इक़बाल पर सैकड़ों हिन्दी-अंग्रेज़ी लेख लिखे।

जब देश भर में रवीन्द्र शताब्दी मनाई गई, तब रवीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व और कृतित्व पर भी पूरा का पूरा विशेषांक ख़ुद ही लिख दिया। कुछ लोग उन्हें 'वन मैन राइटिंग फ़ैक्ट्री' कहते थे। जाने-माने छायावादी कवि शांतिप्रिय द्विवेदी विनोद में माचवेजी को 'राइटर' नहीं, 'टाइपराइटर' कहते थे लेकिन उन्होंने जीवन में कभी टाइपराइटर पर नहीं लिखा। कई लोग इन्हें 'विश्वकोष' या 'इनसाइक्लोपीडिया' भी कहते थे, क्योंकि वे सूचनाओं के भंडार थे। "कवि-आलोचक विजयदेव नारायण साही, प्रभाकर माचवे को 'सूचना मार्तण्ड' कहते थे, क्योंकि वे सचमुच सूचनाओं का भंडार थे और उन्हें पल भर में कई संबद्ध और असंबद्ध चीज़ें याद आ जाती थीं।" (अशोक वाजपेयी, 'कभीकभार', *जनसत्ता* 14 नवंबर 99)। ख़ुद इन पंक्तियों का लेखक इस बात का गवाह है कि कलकत्ते में लिफ़्ट में चलते-चलते एक युवक ने बताया कि वह मोहन राकेश के नाटकों पर शोध कर रहा है। माचवेजी ने तुरंत उसे बताया कि *लहरों के राजहंस* के संवाद किस अमेरिकन त्रासदी से लिए गए हैं। यह बात युगोस्लाविया की एक शोध छात्रा ने लिखी थी। अज्ञेयजी ने *दिनमान* के लिए हिन्दी कोशकारों पर विस्तृत जानकारी छापनी चाही तो दो दिन के भीतर माचवेजी ने *दिनमान* के 35 पृष्ठ लिख दिए। 1987 में जब अज्ञेय का देहांत हुआ तो आकाशवाणी पर 'स्पॉटलाइट' में पंद्रह मिनट तक लगातार अज्ञेय के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर बोलते रहे। उस समय लगभग 25 लेख आपने पत्र-पत्रिकाओं में अज्ञेय पर लिखे होंगे।

विष्णु प्रभाकर, प्रभाकर माचवे की काम करने की क्षमता से अभिभूत होते हैं। उन्होंने लिखा है—"महापंडित राहुल सांकृत्यायन की अध्यक्षता में बंबई में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हो रहा था। माचवेजी मंच के पृष्ठ भाग में बैठे थे। मैं भी उनके पास ही बैठा था। देखता हूँ कि उधर भाषण चल रहे हैं और इधर माचवेजी साधारण से कुछ बड़े पोस्टकार्ड निकालकर लिखने में व्यस्त हो गए हैं। छोटे-छोटे अक्षरों में दो कार्डों पर तो उन्होंने एक लेख ही लिख डाला। दो पर कविताएँ लिखीं।"

इसी तरह एक बार जैनेन्द्र कुमार ने एक संस्था की स्थापना की तो उसका पूरा विधान उन्होंने अल्प समय में ही 'मिल्क बार' में बैठकर तैयार कर दिया था। मैं

चकित था उनकी विलक्षण आशु प्रतिभा और स्थितप्रज्ञता पर। तभी तो स. ही. वात्स्यायन अज्ञेय ने अपनी एक पुस्तक उन्हें भेंट करते हुए लिखा था 'प्रतिभापुंज प्रभाकर माचवे को।'

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की जन्मशताब्दी पर प्रकाशन विभाग, भारत सरकार से किताब निकालने की हमारी योजना थी। बैठे-बैठे माचवे ने पूरी किताब की रूपरेखा बना दी। किस भाषा का कौन लेखक क्या लेख लिखेगा? कितने लेख होंगे? आदि। 'भारतीय साहित्य में अनुवाद की स्थिति' विषय पर लेख सुबह माँगा तो शाम को तैयार। एक बार भारतीय भाषा परिषद समारोह में प्रसिद्ध कवि हरिवंशराय बच्चन के अनुवादों के बारे में, आँकड़े देकर ऐसी जानकारी दी कि श्रोताओं के साथ बच्चन भी दंग रह गए। किस सन् में बच्चन ने कौन-सा अनुवाद किया? यह बच्चन को भी याद न होगा। और हिन्दी ही नहीं, हर भारतीय भाषा का पर्याप्त लेखा-जोखा माचवे रखते थे। जो काम आज कई संस्थाएँ मिलकर नहीं कर पाती हैं, वह काम कई वर्षों तक माचवे ने अकेले किया। मराठी-भाषी होते हुए भी 'हिन्दी साहित्य और पत्रकारिता' के बारे में इतनी गहरी और प्रामाणिक जानकारी रखनेवाले माचवेजी व्यक्ति नहीं, स्वयं एक संस्था थे, और लगभग हर भारतीय भाषा के बारे में गहरी और प्रामाणिक जानकारी रखते थे। हर भाषा के लेखक से उनका व्यक्तिगत संपर्क था, इसलिए उन्हें 'भाषाओं का सेतु' कहा जाता था।

अपनी स्मरण शक्ति और अद्‌भुत मेधा के चलते वे बड़ी-बड़ी कमेटियों में रहे। ज्ञानपीठ पुरस्कार दात्री समिति से लेकर विश्वविद्यालयों की पी-एच.डी. समिति तक में वे रहे। कभी ग़ाज़ियाबाद में 'हिन्दी भवन' का शिलान्यास कर रहे हैं तो कभी गुड़गाँव में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन की अध्यक्षता तो कभी कलकत्ते में भारतीय संस्कृति संसद में '2000 का भारत' विषय पर भाषण दे रहे हैं। एक बार अमरीका में 'गाँधी की अहिंसा' पर इतना मार्मिक भाषण दिया कि श्रोता 'वाह-वाह' कर उठे तो बोले कि मैं 'हिंसा' पर भी इतना ही मार्मिक भाषण दे सकता हूँ। अंतिम समय तक नए-से-नए हिन्दी लेखक की किताब की अंग्रेज़ी में *हिन्दू* में अच्छी 'रिव्यू' लिखते थे तो अच्छे-से-अच्छे लेखक की 'सरे राह चलते-चलते' ऐसी बखिया उधेड़ते कि वह पानी माँगता नजर आता। लेखकों के 'पोर्ट्रेट स्केच' बनाकर तुरंत उनको दे देते थे। तुरंत उनकी रचनाओं का अनुवाद कर देते थे।

स.ही. वात्स्यायन अज्ञेय, दिनकर, वीरेन्द्र कुमार जैन, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', गजानन माधव मुक्तिबोध, नरेश मेहता, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, शमशेर बहादुर सिंह, नागार्जुन, नेमिचंद्र जैन, गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, भवानी प्रसाद मिश्र, उमाशंकर जोशी, शिवमंगल सिंह 'सुमन', आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री, श्यामू

संन्यासी माचवे के मित्र थे। प्रसिद्ध चित्रकार मकबूल फ़िदा हुसैन और अमृता प्रीतम, कर्त्तार सिंह दुग्गल और देवकांत बरुआ तक उनके मित्र थे।

एम.एस. बेन्द्रे के साथ उन्होंने इंदौर में देवलालीकरजी से चित्रकला सीखी। प्रकाशचंद्र सेठी, नरेश मेहता, हरिनारायण व्यास, शरतचंद मुक्तिबोध, जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार उनके विद्यार्थी थे, पर वे सबको अपना मित्र मानते थे। सबके लिखने में रुचि लेते थे। नए-से-नए कवि दिल्ली आते तो माचवे के यहाँ ही ठहरते थे, चाहे वे शमशेर हों, रघुवीर सहाय हों, विष्णु खरे हों या प्रेमलता वर्मा हों। माचवे पहले कनॉट प्लेस में पार्क होटल के ऊपर रहते थे। बाद में रवीन्द्र नगर के सरकारी मकान में चले गए। उनका घर साहित्यकारों का घर था। जो भी बनारस से आता, इलाहाबाद से आता, लखनऊ से आता माचवे जी का घर उसके लिए 'खुली धर्मशाला' बना रहता।

1937 में स्वामी सहजानंद के नेतृत्व में वे मेरठ से बागपत तक किसान रैली में शामिल हुए। उसी वर्ष उन्होंने कथाकार जैनेन्द्र कुमार पर पहली पुस्तक लिखी 'जैनेन्द्र के विचार', जिसे मुंबई से नाथूराम प्रेमी ने प्रकाशित किया। 1938 में अज्ञेय ने *विशाल भारत* में दो इंप्रेशनिस्ट कविताएँ छापीं। *वीणा* में तब पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' संपादकीय लिखते थे। *विशाल भारत* की इन्हीं कविताओं पर उग्रजी ने चार पृष्ठों का उग्र आलोचनायुक्त संपादकीय लिखा। 1936-37 में *सैनिक* में स.ही. वात्स्यायन अज्ञेय ने पहली बड़ी कहानी 'विसंगति' प्रकाशित की तो पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने माचवे को 'सिनिक' कहा। माचवे मराठी, हिन्दी और अंग्रेज़ी तीन भाषाओं में निरंतर लिखते थे। अनुवाद करते थे। बाङ्ला, उर्दू, ओड़िया, कश्मीरी, डोगरी, जर्मन और फ्रेंच भी पढ़ लेते थे।

26 जनवरी 1940 को आचार्य नरेन्द्र देव ने अपने साप्ताहिक *संघर्ष* में 400 पंक्तियों की लंबी कविता 'मार्क्स और गाँधी' छापी, जो *अनुक्षण* कविता संग्रह (1958) में संकलित है। *हंस* में कई लेख, रिपोर्ताज, कहानियाँ प्रेमचंद के बेटे अमृत राय ने छापीं।

आजीवन वे संघर्ष करते रहे। इंदौर में दो आने में दो रोटी और पतोड़ की सब्ज़ी खाकर कला सीखते थे। आगरा में बड़े भाई 20 रुपये ख़र्चे के लिए देते थे—शेष ट्यूशन करके गुज़ारा करते थे। खूब पैदल चलना और ब्रेड-दूध पर गुज़ारा करना। मुस्लिम कला का यहीं अध्ययन किया। आजीवन चाय के अलावा किसी चीज़ का व्यसन नहीं रखा।

1943 में फ़ासिस्ट विरोधी कहानियों का संग्रह *संगीनों का साया* प्रकाशित हुआ। कांग्रेस समाजवादी दल की पहली सभा में विद्यार्थी कार्यकर्ता रहे। इंटक के 'वर्कर' के नाते मज़दूरों की कहानियाँ लिखी, हड़ताल करवाई। मज़दूर नेता हरिभाऊ

उपाध्याय के *जनयुद्ध* में उग्र लेख लिखे। सेवाग्राम के गाँधी आश्रम में, 1940 में चले गए—शिखा-सूत्र तोड़ा और ब्राह्मण होकर पाख़ाना साफ़ किया। ग्राम स्वच्छता अभियान चलाया। सामाजिक अन्याय और असमानता के ख़िलाफ़ लेखनी और वाणी का उपयोग करना तभी सीखा। उज्जैन में हरिजन छात्रावास में बोर्डिंग हाउस के सुपरिंटेण्डेण्ट अमृतलाल यादव की माँ का शव क्षिप्रा किनारे के श्मशान तक उठाया। 11 सितंबर 1963 को दिल्ली में अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान के मुर्दाघर में प्रसिद्ध हिन्दी कवि मुक्तिबोध का शव रखा था, उनके तथाकथित मित्र जो बाद में उनके हितचिन्तक बने, शव को घर ले जाने तक को तैयार नहीं थे, माचवे ग्रेटर कैलाश स्थित अपने घर गजानन माधव मुक्तिबोध के शव को ले गए। निगमबोध घाट पर ग.मा. मुक्तिबोध का शव रखा था। चिता की लकड़ियों के लिए भी वहाँ उपस्थित लेखकों के पास पैसे नहीं थे—तब माचवे अपने मित्र के लिए आगे आए।

गाँधी के सेवाग्राम आश्रम में सुबह शाम उपनिषद् और गीता पढ़ने लगे। यहीं यशवंत महादेव पारनेरकरजी की पुत्री शरद पारनेरकर, गाँधी और कस्तूरबा की पुत्री की तरह रहती थीं। माचवे को गाँधीजी ने बेटी शरद के बारे में बताया। शरद-प्रभाकर की जोड़ी जो बनी तो मृत्युपर्यन्त बनी रही। शादी में कुल साढ़े नौ आने ख़र्च आया। गाँधीजी ने अपने हाथ से 108 सूत तार कातकर माचवेजी के गले में डाला और कस्तूरबा गाँधी ने अपने हाथ से कते सूत की साड़ी श्रीमती शरद माचवे को दी। शादी के सादे समारोह में खान अब्दुल गफ़्फ़ार ख़ान, महादेव देसाई, राजकुमारी अमृतकौर, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, सरोजिनी नायडू, जमनालाल बजाज, डॉ. कृपलानी भी शामिल हुए, क्योंकि उसी दिन वहाँ अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक थी। तभी से माचवे खादी पहनते रहे। कस्तूरबा गाँधी ने गुड़-पापड़ सब बारातियों को बाँटा।

माचवे की पं. जवाहरलाल नेहरू से भी पहली मुलाक़ात वहीं हुई। कस्तूरबा गाँधी ने अपने हाथ से कते सूत से बनी केवल दो साड़ियाँ ही दो लड़कियों को विवाह के अवसर पर दी थी, एक श्रीमती शरद माचवे को, दूसरी श्रीमती इंदिरा गाँधी को जो अब भी गाँधी संग्रहालय में रखी है। 'गाँधी शताब्दी' के अवसर पर 1967 में जर्मनी के चांसलर के निमंत्रण पर जर्मनी गए।

डॉ. प्रभाकर माचवे और श्रीमती शरद पारनेरकर की शादी के तीन साल बाद 1943 में एक बेटी हुई जो नौ महीने बाद ही ग़लत इंजेक्शन के कारण मर गई। पति-पत्नी दोनों महाराष्ट्र के नैष्ठिक ब्राह्मण परिवार से थे और रहन-सहन, सफ़ाई में, शुचिता में अपने संस्कारों से बँधे थे, लेकिन धार्मिक कर्मकांडों और पाखंड से बचपन से ही अरुचि हो गई थी। व्यवहार में जाति प्रथा के बंधन को उन्होंने नहीं माना। पुत्री चेतना ने पंजाबी सुरेश कोहली (अंग्रेज़ी के कवि-आलोचक) से प्रेम-विवाह किया तो

पुत्र असंग ने सिन्धी नर्तकी नीलोफर से विवाह किया। मेधावी पुत्र असंग 1998 में पचास के होने से पहले ही इस दुनिया से चले गए। माचवे के ससुर यशवंत महादेव पारनेरकर जी ने गोरक्षा का अभियान चलाया था। वे गाँधीजी के सेवाग्राम आश्रम में गौशाला के प्रमुख संचालक और गोरक्षा समिति के अध्यक्ष थे। स्वराज्य के बाद वे मध्यप्रदेश सरकार के कृषि सलाहकार और उत्तरप्रदेश में ऋषिकेश में कृषि उद्यान और पशु केन्द्र के प्रमुख निर्माता बने। कवि-आलोचक स्वर्गीय मलयज की गोरक्षा समिति में उन्होंने ही नौकरी लगाई थी—इस बात को कवि-कथाकार आलोचक श्रीराम वर्मा ने *पूर्वग्रह* के 'मलयज स्मृति विशेषांक' में लिखा है। 1938 में माचवे अपनी माँ को दक्षिण महाराष्ट्र में पंढरपुर में पारिवारिक देवता विट्ठल के दर्शन कराने ले गए। वहाँ पुजारी ने माँ की सोने की चूड़ियाँ खींच ली।

गाँधी के प्रभाव में माचवे ने आजीवन खादी पहनी। यंत्र विरोध किया। हाथ से लिखते और चित्र बनाते थे। गाँधी के कारण ही राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति आजीवन निष्ठा रखी और दूसरी भाषाएँ भी सीखी। माचवे गाँधीजी के संपर्क में 1939 से 1942 तक रहे। नेहरूजी के संपर्क में 1954 से 1964 तक और लालबहादुर शास्त्री के संपर्क में 1964 से 1966 तक रहे। बाबू जगजीवनराम की मराठी-हिन्दी में जीवनी लिखी। मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री और गृहमंत्री प्रकाशचंद्र सेठी और कई राज्यपाल उनके विद्यार्थी थे, पर इतने बड़े-बड़े नेताओं के संपर्क में रहने के बावजूद कभी भी कोई अनुचित लाभ नहीं उठाया। उन्हें जो मिला, योग्यता के बल पर मिला। 1953 में आकाशवाणी नागपुर में मराठी-हिन्दी कार्यक्रम निष्पादक के रूप में चुने गए। जीवन के अंतिम वर्षों में में इंदौर में *चौथा संसार* का संपादक बनकर गए। वे अंत तक हिन्दी के लेखक और संपादक बनकर ही जिए और हिन्दी लेखक-संपादक बनकर ही मरे। अंत तक छोटे-से-छोटे अख़बार और लघु पत्रिकाओं के लिए लिखते रहे। सेवाग्राम में गाँधी के प्रभाव में आजीवन खादी वृत्ति अपनाई।

सेवाग्राम के पास वर्धा में भदंत आनंद कौशल्यायन के माध्यम से 1943 में महापंडित राहुल सांकृत्यायन के अंतरंग शिष्य बने। बौद्ध साहित्य पढ़ने लगे। महापंडित के साथ *अंग्रेज़ी-हिन्दी शासन शब्दकोष* का संपादन किया। मृत्युपर्यन्त राहुलजी उनके परिवार के अंग रहे। 1949 से 51 तक माचवे इलाहाबाद में रहे। माचवे के एकमात्र पुत्र का नाम 'असंग' राहुलजी ने ही रखा था, तब उनके कोई संतान नहीं थी। राहुल कमला पेरियार (बाद में सांकृत्यायन) के साथ 14, हेस्टिंग्स रोड इलाहाबाद पर रहने आए। स.ही.वात्स्यायन भी तब वहीं कपिला वात्स्यायन के साथ रहते थे। वे असंग को पुत्रवत् मानकर उसके साथ घंटों खेलते, अपने हाथ से उसे खिलाते, उसके लिए मिठाइयाँ और खिलौने लाते। डॉ. आशामुकुल दास और अज्ञेयजी भी असंग के लिए आइसक्रीम लाते थे।

आज़ादी से पहले रूस ने राहुल सांकृत्यायन को अपने यहाँ पढ़ाने बुलाया। वहाँ राहुल सांकृत्यायन ने रूसी महिला लोला एमर्तलोना से शादी की थी। मंगोलियाई भाषा की विद्वान् लोला रूस में ही रह गई। 1947 में राहुल सांकृत्यायन ख़ाली हाथ लौटे। उनका पुत्र ईगोर भी वहीं रह गया था, क्योंकि राष्ट्रपति स्टालिन ने इन्हें भारत आने नहीं दिया था। बहुत बाद में हाल में ईगोर दिल्ली आए थे। राहुलजी भी बार-बार रूस जा नहीं सकते थे, लेकिन पत्नी और बेटे की याद तो महापंडित को भी सताती थी। 1948-49 के इस दौर में माचवे उनके साथ रहे। माचवेजी लोला-ईगोर से मिले थे। लोला राहुलजी की प्रणय-स्मृति में खोई थी। राहुल और लोला के बीच प्रणय-पत्राचार संस्कृत में हुआ था। लोला संस्कृत में प्रेमपत्र लिखती थी। राहुलजी, जवाब संस्कृत में ही देते थे। इस महत्त्वपूर्ण पत्राचार साहित्य की अमूल्य निधि को माचवे ने माँगा तो लोला ने मना कर दिया कि वह उनकी व्यक्तिगत अमूल्य निधि है। राहुलजी के प्रणय का अक्षय स्मृति-चिह्न है। इलाहाबाद में माचवे स्थानीय पत्रों—*अमृत बाज़ार पत्रिका, भारत संग्राम, सरस्वती, माया, सम्मेलन-पत्रिका* में लिखते थे। राहुलजी के साथ प्रभाकर माचवे ने कई काम किए। *शासन शब्दकोष* के लिए सात प्रांतों में पाँच हज़ार मील घूम-घूमकर यात्राएँ की। माचवे राहुलजी के साथ नैनीताल, रानीखेत, अल्मोड़ा, कौसानी, बागेश्वर और दार्जिलिंग गए। राहुलजी की दो किताबों—*मधुर स्वप्न* और *कौरवी लोकगीत* के आवरण-पृष्ठ बनाए। माचवेजी में काम करने की जो त्वरा थी, तेज़ी थी, वह राहुलजी की देन थी। ऐतिहासिक वस्तुओं और कलाओं की गहराई से खोजबीन करने की जो प्रवृत्ति है, उसमें राहुलजी के साहचर्य का मणि-कांचन योगदान है। राहुलजी ने घोड़े पर बैठे माचवे की तस्वीर अपनी किताब *कुमाऊं* में छापी है। बंबई से प्रकाशित *नया साहित्य* में शमशेर और नेमिचंद्र जैन ने 'चंबा', 'शिमला', एवं 'दीनू' कविताएँ छापी। 1948 में पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी ने बंबई में आकाशवाणी के लिए चुन लिया। 6 फ़रवरी, 49 से इलाहाबाद रेडियो में आ गए। बाद में नागपुर और दिल्ली रेडियों में छह वर्ष तक कार्य किया। 1953 में रतलाम में माँ का देहांत हुआ। ख़बर देर से मिली—अंतिम दर्शन भी नहीं कर पाए। 13 मार्च, 1954 को साहित्य अकादेमी की स्थापना हुई और माचवेजी सितंबर 1954 में साहित्य अकादेमी के उप-सचिव बने और बाद में इसके सचिव भी रहे। उन्होंने *सात युगोस्लाव कहानियाँ, टॉलस्टाय और भारत* जैसी किताबें लिखी, 'भारतीय साहित्य के निर्माता' शृंखला के अंतर्गत 'कबीर', और 'केशवसुत' पर विनिबंध लिखे।

साहित्य अकादेमी का शुभंकर माचवे ने प्रसिद्ध फिल्मकार सत्यजित राय से बनवाया। रे मोशाय ने गोल चक्र में साहित्य को कलात्मक तरीक़े से लिख भेजा, साथ ही हज़ार रुपये का बिल भी। सरकारी भुगतान में देरी आई तथा नेहरू के हस्तक्षेप से ही रे मोशाय का भुगतान संभव हो सका। नेहरू ने कहा, "इस एंबलम के एक हज़ार तो क्या पाँच हज़ार भी कम हैं।"

व्यक्तित्व

साहित्य अकादेमी तब शैशवावस्था में थी। भारत की चौदह (अब बाईस) भाषाओं के साहित्य से चुनी हुई पुस्तकों का अलग-अलग भाषाओं में अनुवाद करने का ज़ोरदार कार्यक्रम आरंभ हुआ। तब दो भाषाएँ जाननेवाले दुर्लभ थे। ख़ासकर दक्षिण की और पूर्वी भारत की भाषाएँ जाननेवाले तो थे ही नहीं। इसलिए मूल भाषा से अंग्रेज़ी में अनुवाद होता था और फिर अंग्रेज़ी से भारत की अन्य भाषाओं में (आज भी कमोबेश यही स्थिति है) माचवे कहते थे कि कितनी अजीब यह परिस्थिति है कि एक भाषा का लेखक दूसरी भारतीय भाषा के लेखक को न तो जानता है, न ही उसकी साहित्यिक रचना को। विविध भारतीय भाषाओं के लेखकों को एक दूसरे के नज़दीक लाने का काम माचवे ने किया। उनके लेखन से परिचित कराया। माचवे ने खोज-खोजकर एक से अधिक भाषाएँ जाननेवालों को अनुवाद का काम दिया और यह कार्य अच्छे ढंग से संपन्न हो इसलिए बहुत प्रयत्न किए। माचवे ने भारतीय लेखकों को अपने स्वाभिमान और कर्त्तव्य के प्रति जागृत किया था और संपूर्ण भारत में घूमकर सब भारतीय भाषाओं के लेखकों, साहित्यकारों तथा संस्थाओं के बारे में जानकारी इकट्ठा की थी, जिससे सभी भाषाओं के लेखकों का उचित तथा समान सम्मान हो सके। बाद में भारतीय भाषा परिषद, कलकत्ता में भी उन्होंने इसी काम को आगे बढ़ाया। आज से 40-50 साल पहले तक उत्तर दक्षिण या पूर्व की अन्य भाषाओं के बारे में किसी को कुछ जाँनकारी ही नहीं थीं। आज स्थिति काफ़ी कुछ बदल गई है। इस परिवर्तन में माचवे का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है।

उन दिनों साहित्य अकादेमी का दफ़्तर कनॉटप्लेस में बैरक में था, जहाँ आज पालिका बाज़ार है। एक दिन इसी दफ़्तर में भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू माचवे की टेबल के सामने आकर खड़े हो गए और कहने लगे कि 'मैं आपसे मिलने आया हूँ'। माचवे अवाक् रह गए। आज राजनेता को तो छोड़िए कोई अफ़सर भी किसी मातहत से मिलने नहीं जाता।

साहित्य अकादेमी की कार्यकारिणी समिति में तब अन्नदाशंकर रे, जैनेन्द्र कुमार, बनारसीदास चतुर्वेदी, काका कालेलकर, मामा वरेरकर और उमाशंकर जोशी जैसे लेखक थे। माचवे ने अकादेमी में रहते हुए गुरु नानक, ग़ालिब, नामदेव, विवेकानंद, लाला लाजपत राय, तुलसीदास और लेनिन जैसे लेखकों की जयंतियाँ

मनाईं। कई उपेक्षित लेखकों को प्रकाश में लाने का काम किया। तीन महान् लेखकों की जन्म शताब्दियाँ मनाईं—रवीन्द्रनाथ टैगोर की 1961 में, महात्मा गाँधी की 1969 में और श्रीअरविन्द की 1972 में। भारतीय साहित्य की एकता के लिए विभिन्न प्रदेशों के नए-पुराने लेखकों से कश्मीर से कन्याकुमारी तक संपर्क किया और विभिन्न भारतीय भाषाओं के बीच 'सेतु' बन गए। इसी बीच अमेरिका, पेरिस, रूस, जापान, जर्मनी, ब्रिटेन, स्वीडन, रोम, बुल्गारिया, बाङ्लादेश, लेबनान, मिस्र देश गए। फिर भी पश्चिम से आक्रांत नहीं हुए। उन्होंने 'हूज़ हू ऑफ इंडियन राइटर्स' प्रकाशित करवाया जो आज तक प्रामाणिक संदर्भ ग्रंथ माना जाता है। माचवे ने साहित्य अकादेमी की लगातार 21 वर्षों तक सेवा की। अज्ञेय के संपादन में प्रकाशित *नेहरू अभिनंदन ग्रंथ* के लिए अनेक अनुवाद किए। श्रीलंका गए। माचवे ने जब लिखना शुरू किया था, तब भारतीय साहित्य पर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गाँधी का स्पष्ट प्रभाव था। हिन्दी में रायकृष्ण दास, आचार्य चतुरसेन, अज्ञेय आदि गद्यकाव्य लिखते थे। मराठी में साने गुरुजी, वामन मल्हार जोशी, वि.स. खांडेकर—लिख रहे थे। माचवे मामा वरेरकर, वल्लतोल, सरदार पणिक्कर, भाई वीर सिंह, मर्ढेकर, बुद्धदेव बोस जैसे लेखकों के संपर्क में आए। सेवाग्राम आश्रम में माचवे का काका कालेलकर, किशोरीलाल मशरूवाला, अंग्रेज़ी उपन्यासकार राजाराव और चित्रकार नंदलाल बसु से मिलना हुआ। इंदौर में चित्रकार बेन्द्रे और मकबूल फ़िदा हुसैन के साथ चित्रकला सीखी। 'स्केच' अंत तक बनाते रहे। अपने घर में लगाने के लिए शिमला आदि के दर्शनीय रंगीन चित्र बनाते थे। इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद उनका रंगीन पोर्ट्रेट बनाया। *शब्दरेखा* में उनके ऐसे चित्र हैं। प्रसिद्ध उपन्यासकार यशपाल के घर में माचवे का बनाया चित्र वर्षों तक लगा रहा। डॉ. जगदीश गुप्त ने लिखा है कि *शब्दरेखा* जैसी कोई पुस्तक हिन्दी में मेरे देखने में नहीं आई। माचवे का शब्दकोष और रेखा-बोध दोनों इसमें परस्पर प्रतिस्पर्धी होकर समाहित हैं। कितने राष्ट्रनेता, कितने साहित्यकार, कितने भाषाविद् और कितने कलाकार एवं जनप्रिय व्यक्तियों की छवियाँ उन्होंने उतारी हैं! मुखाकृतियों की पहचान में वे बहुधा सफल हुए है, तभी तो संबद्ध महानुभावों ने अपने हस्ताक्षर करके उनके कलाकर्म को मान्यता दी है।

मराठी के रोमांटिक कवियों ने गडकरी, सावरकर, तांबे और माधव जूलियन के प्रभाव में रोमांटिक कविताएँ लिखी। टैगोर का प्रभाव भी अधिकांश हिन्दी कवियों पर रहा। *जीवन साहित्य* में यशपाल जैन और अक्षय कुमार जैन ने 'अनेकांत' रचनाएँ छापी। कबीर, नामदेव, ज्ञानेश्वर, गुरुनानक, तुलसी, रैदास, मीराबाई, हब्बा खातून, तुकाराम, बाबा फ़रीद, सूरदास, केशवसुत, भाई वीर सिंह और शाह लतीफ सब पर अपनी लेखनी उन्होंने चलाई है। उन्होंने पचास वर्षों तक निरंतर लिखा।

प्रभाकर माचवे की सौ से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हैं और क़रीब दस हज़ार पृष्ठों का विविध प्रकार का लेखन पत्र-पत्रिकाओं में बिखरा पड़ा है, जिसे सँजोकर

रखने की ज़रूरत हैं। माचवे के बाद के अनेक छोटे-बड़े लेखकों की ग्रंथावलियाँ और रचनावलियाँ इस बीच आ गई हैं, किन्तु माचवे पर यह काम अब तक नहीं हुआ है। यह काम अब किया जाना चाहिए। माचवे स्वयं अपने लेखन को 'बहती गंगा में बहा दिया' मानते थे और उसे पुस्तक रूप देने में सर्वथा उदासीन रहते थे। एक दिन में पचास पृष्ठ लिख देना उनके लिए कोई बड़ी बात नहीं थी। वह अपने लिखे को कभी दुबारा न ही लिखते, न ही देखते, न ही पढ़ते थे। इसलिए उसमें संशोधन का, उसे बनाने, सँवारने का प्रश्न ही नहीं है। वे अपने लिखे से ऐसे अलग हो जाते थे, जैसे इससे उसका कभी कोई संबंध ही न रहा हो। वह अपने छपे लेखों को सहेजकर नहीं रखते थे, क्योंकि मन में पुस्तक छपाने का कोई लालच नहीं रहता था। पुस्तक छपाने, लेख संग्रह करने की अपेक्षा वे कुछ नया लिखना बेहतर समझते थे। उनके जितने भी कविता संग्रह छपे हैं, उनके संकलनकर्ता दूसरे लोग हैं। यही हाल उनके गद्य-संकलनों का भी है। उनका सारा लेखन ऐसा अजस्र प्रवाह हैं जिसे रोकना, सँभालना अपने आपमें एक कठिन कार्य है। उनका लेखन ऊपर से देखने में चाहे कितना ही खुरदरा क्यों न लगे, उसके भीतर गहरी रचनात्मक अंतर्धारा प्रवाहमान है। कहानीकार कमलेश्वर ने ठीक ही कहा है कि 'माचवे भाषा और साहित्य की ऐसी नदी हैं, जो निरंतर बहती रहती है।' पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' से एक भेंट में माचवे ने बिलकुल सही कहा था, "अपने निर्माण में सबसे बड़ी बाधा मैं स्वयं हूँ।"

सचमुच, उनके निर्माण का बाधक तत्त्व यही है 'बँधो नहीं, अटको नहीं।' वे कभी किसी एक विधा में बँधे नहीं।

माचवे नाम की इस नदी ने कभी नहीं पूछा कि तुमने मेरे पानी का क्या किया? माचवे ने झरनों, झीलों, नदियों, प्रपातों पर ढेर सारी कविताएँ लिखी हैं। वे अज्ञेय की तरह नक़्क़ाशी पर, कीमियागीरी पर ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित करके नहीं चलते थे। वे सीधे संप्रेषण में विश्वास करते थे। वे जिसके लिए लिखते थे, उसके लिए संप्रेषित करना जानते थे। उनके लेखन में इसीलिए सीधा लगाव है, साक्षात् संवाद है। उनके पास कहने को इतना कुछ है कि उसे सीधे-सीधे कह देना चाहते हैं। उनके पास अनुभव, तथ्य और सूचनाएँ इतनी अधिक है कि अक्सर आपाधापी-अफरातफरी मच जाती है। काग़ज़ क़लम मिला कि लिखा नहीं तो अंतर्देशीय और पोस्टकार्ड को ही धन्य किया। ठहरकर, रुककर देखने का अवकाश वहाँ नहीं है। जीवन और जगत् का वस्तुगत अध्ययन उनके लेखन में प्रचुर है। छंद, रीति अलंकार वहाँ नहीं है। 1973 में अकादेमी से निवृत्त होने के बाद हिन्दी में अपने ढंग की अकेली *भारत और एशिया का साहित्य* नामक पुस्तक लिखी। डॉ. माचवे के पास विषयों की भरमार थी। किसी सीमारेखा में उन्हें बाँधना असंभव था। वे इतने अधिक विषय जानते थे और इतना अधिक लिखते थे कि हैरानी होती थी। रेलगाड़ी में चलते-चलते भी लिख लेते थे।

जीवन के सारे नित्यकर्म नियमित मनोयोगपूर्वक करते थे, यात्राएँ करते थे और लिखते भी थे। पोस्टकार्ड पर कविता लिखकर भेज देते थे। महाकवि निराला उनकी क़दकाठी के कारण भी उन्हें विशेष मानते थे। निराला का चित्र जब उन्होंने बनाकर दिखाया तो निराला ने 12 अक्टूबर 58 को उस पर अंग्रेज़ी में लिखा—आई थैंक प्रभाकर माचवे फ़ॉर दिस स्केच।"

उनकी रुचि चित्रकला के अलावा नृत्य, संगीत और शिल्प में भी थी। इन कलाओं के इतिहास और आलोचना में उनकी गहरी रुचि थी। इनके अतिरिक्त दर्शन के साथ-साथ भाषाविज्ञान, मनोविज्ञान और इतिहास में भी उनकी गहरी रुचि थी। उनकी रुचि बाल साहित्य में भी थी और उन्होंने बच्चों के लिए भी प्रचुर मात्रा में लिखा है। वे *बाल भारती* में अंत तक बच्चों के लिए लिखते रहे। मृत्युपर्यन्त वे प्रतिदिन *चौथा संसार* अख़बार में संपादकीय, समीक्षाएँ और 'सादुल्ला' उपनाम से व्यंग्य, टिप्पणियाँ आदि लिख रहे थे। वे 'सादुल्ला की खरी-खरी' टिप्पणियाँ, पुस्तक-चर्चा, 'भाषा-भगिनी' में अनुवाद, विशेष अवसरों पर कविताएँ—सभी कुछ लिखते थे। वे पुरानी पीढ़ी के एक ज़बर्दस्त लिक्खाड़ थे। माचवे अपनी 'मचवा' (छोटी नाव) लेकर मछुए की तरह साहित्य सागर में दूर-दूर तक गोते लगाते रहे, भटकते रहे और कभी सीपी तो कभी मोती लाते रहे।

राहुलजी से उन्हें यायावर-वृत्ति भी मिली थी। उन्होंने देश में पूरब से पश्चिम तक और उत्तर से दक्षिण तक चप्पे-चप्पे के कई बार चक्कर लगाए और दूसरे पच्चीस देश में घूम आए। पूरे देश को घर समझनेवाले, देश की हर भाषा से आत्मीय लगाव रखनेवाले और अपना समझकर सभी जगह घूम आनेवाले माचवे की तरह कितने लोग हो सकते हैं? माचवे का पूरब और पश्चिम के साहित्य और आलोचना से गहरा परिचय रहा। देश के प्रत्येक प्रदेश में, विशेषतः दक्षिण के प्रदेशों में माचवे ने हिन्दी के लिए जो काम किया और जो सौहार्द उत्पन्न किया, वह अपने आप में एक उदाहरण है। उनके कारण अनेक हिन्दीतर भाषा-भाषी हिन्दी में लिखने लगे और कई ने साहित्य का अनुवाद करके हिन्दी की श्रीवृद्धि की। हिन्दी और हिन्दीतर भाषाओं के बीच सेतु का जैसा और जितना काम माचवे ने किया, उतना कोई एक अन्य व्यक्ति तो क्या संस्था भी नहीं कर पाई। उन्होंने अनेक साहित्यकारों को एक दूसरे के निकट लाने के लिए अथक परिश्रम किया। प्रख्यात विद्वान् डॉ. पांडुरंग राव ने उनके बारे में ठीक ही लिखा है कि, "महात्मा गाँधी की यह महती भावना थी कि हिन्दी का प्रभाव एक-न-एक दिन भारतीय भाषाओं की प्रकृति को प्रकृत्या आत्मसात कर अपनी अखंड चेतना को अभिव्यंजित कर सकेगा। इस विराट भावना को साकार बनाने में जिन महानुभावों ने योग दिया, उनमें डॉ. प्रभाकर माचवे का नाम चिरस्मरणीय

रहेगा।" आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा कि, "डॉ. प्रभाकर माचवे प्रतिभाशाली कवि और प्रतिभाशाली साहित्यकार हैं। उन्होंने संपूर्ण भारतीय भाषाओं के साहित्य का अध्ययन और मनन किया है।"

गाँधीजी ने उन्हें 'मशीन', सीताराम सेक्सरिया ने 'घोर स्वावलंबी', शांतिप्रिय द्विवेदी ने 'टाइपराइटर', डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने 'ज्ञान-पिपासु, बहुश्रुत एवं सरस साहित्यकार', अज्ञेय ने 'प्रतिभापुंज' तथा डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने 'मनस्वी शुद्ध बुद्ध एवं संवेदनशील साधक' कहा—तो डॉ. रणवीर रांग्रा ने उन्हें 'विलक्षणताओं का स्वामी तथा विरोधाभासों का संगम' कहा।

1959 में माचवे दो वर्ष के लिए अमेरिका के विसकांसिन विश्वविद्यालय में हिन्दी पढ़ाने के लिए गए थे। वहाँ भारतीय साहित्य, संस्कृति और गाँधीजी का दर्शन पढ़ाया। भारतीय साहित्य, संस्कृति पर उनके व्यापक विशद ज्ञान को मनोरंजक शैली में श्रोताओं ने ख़ूब सराहा।

1973 में दिसंबर में साहित्य अकादेमी से सेवानिवृत्त होने के बाद वे 1976 में बंबई अपने बेटे के पास एकांतवास में चले गए। 1976 में शिमला स्थित भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान में फ़ेलो बनकर गए। वहीं मेरी उनसे पहली मुलाक़ात हुई। मैं तब वहाँ बी.ए. में पढ़ता था। डॉ. श्यामाचरण दुबे ने उन्हें वहाँ 'गाँधी और मार्क्स' पर काम करने के लिए बुलाया था। 1979 से 1985 तक वे भारतीय भाषा परिषद के निदेशक बनकर कलकत्ता में रहे। *संदर्भ भारती* पत्रिका निकाली। *भारतीय उपन्यास कथासार* और *शतदल* जैसी किताबों का संपादन किया। इन साढ़े छह वर्षों में कलकत्ता ने उन्हें और उन्होंने कलकत्ता को बहुत कुछ दिया। भारतीय भाषा परिषद् को देश की एक अग्रणी साहित्यिक संस्था बनाया। मारवाड़ियों के हिन्दी प्रेम और वैभव के बीच उन्होंने गाँधीवादी त्यागमय जीवन बिताया। कलकत्ते में साढ़े छह वर्ष के दौरान "अनेक पुराने-नए लेखक और पत्रकार मिले, जिनसे मैंने बहुत कुछ सीखा और पाया।" (कलकत्ते में साढ़े छह वर्ष—माचवे-एक पड़ाव, कलकत्ता)। इस दौरान मार्क्सवादी पत्रिका *क़लम* के प्रेमचंद विशेषांक में लिखा। नवल की पुस्तक *चौपटानंद* के लिए चित्र बनाए। 'इंस्टीट्यूट ऑफ़ फ़ंडामेंटल रिसर्च' की अध्यक्षता करने के लिए जाने-माने इतिहासकार रमेशचंद्र मजूमदार और डी.सी. सरकार ने उनकी अनुशंसा की। मानवेन्द्रनाथ राय, डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी, सौम्येन्द्रनाथ ठाकुर, डॉ. नीहाररंजन रे, डॉ. आंत्वान से, डॉ. तकन-पुरशान, डॉ. आशुतोष भट्टाचार्य से मिले। कलकत्ता में ही जिन थोड़े बहुत हिन्दी, बाङ्ला, अंग्रेज़ी के लेखकों, पत्रकारों, फ़िल्मकारों या रंगकर्मियों से मेरा परिचय हुआ, वो सब कमोबेश माचवे के कारण ही संभव हो पाया। अज्ञेय ने मुझे वत्सल निधि के शिविर और 'पाँचवा सप्तक' का आमंत्रण दिया था इसलिए वे सबसे कहते थे "ही इस ए ग्रेट फ्रेंड ऑफ़ अज्ञेय।" अज्ञेय को कलकत्ता

में ही 1980 में भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार दिया गया था। कला मंदिर सभागार में हुए इस समारोह में हम गए तो माचवेजी ने बताया कि देखो इसमें अज्ञेय के वे मित्र भी आए हैं, जो उनके साथ बम बनाते थे।

तूलिका में रामकिंकर बैज के 'स्वर्गवास' पर कविता लिखी। बाङ्ला लेखकों अन्नदाशंकर रे, लीला राय, प्रेमेन्द्र मित्र, विमल मित्र, समरेश बसु, शचीन मित्र, बिमान घोष, सुनील पाल, सुनील गंगोपाध्याय, अशोक गुप्त, शांतिदेव घोष, रूमा गुहा ठाकुरता आदि अनेक बाङ्ला लेखकों, कलाकारों, विद्वज्जनों से मिले। भागलपुर शरत समिति में एक घंटा शरत पर व्याख्यान दिया। कलकत्ते के बाहर भी शांतिनिकेतन, रानीगंज, श्रीरामपुर, खड़गपुर, जमशेदपुर, कुल्टी आदि में भाषण दिए। रामकृष्ण मिशन से लेकर महाबोधि सोसायटी तक, जैनियों की अनेक संस्थाओं से गुरुद्वारों तक, *भगवद्गीता* के विभिन्न भाष्यों से लेकर *भारतीय संस्कृति* ग्रंथ के विमोचन के अवसर पर और अंग्रेज़ी में संगोष्ठी के संचालन तक अनेक व्याख्यान दिए। इसी दौरान भारत के बीस विश्वविद्यालयों की पी-एच.डी. थीसिसों की परीक्षा, संघ लोक सेवा आयोग के कार्य, सात केन्द्रीय मंत्रालयों की हिन्दी सलाहकार समितियों की सदस्यता करने के अलावा जापान, बैंकाक, हांगकांग और नेपाल की यात्राएँ की। पचासों लेख लिखे। कोचीन, बंबई, असम, ओड़िसा, इलाहाबाद और दिल्ली में प्रेमचंद, वल्लतोल, पराड़कर, रामचंद्र शुक्ल, सुब्रह्मण्यम भारती आदि लेखकों की जयंतियाँ-जन्मशताब्दियाँ मनाई। *साप्ताहिक हिन्दुस्तान* में पाँच साल तक हर महीने 'कलकत्ता की चिट्ठी' लिखी। कलकत्ते में रहते हुए ही *शब्द रेखा* लिखी। *दशभुजा, आँखें मेरी बाक़ी उनका, लापता*—उपन्यास लिखे। 'हिन्दी ही क्यों' और अन्य निबंध, तथा व्यंग्य की किताब *विसंगति* तैयार की। भारतीय संस्कृति पर दो ग्रंथ संपादित किए। *वाद और सिद्धांत, मैत्री और सेवा* संपादित की। डॉ. कमलकिशोर गोयनका ने *डॉ. प्रभाकर माचवे—प्रतिनिधि रचनाएँ* प्रकाशित कीं। 'गाँधीजी और भारतीय साहित्य' तथा 'गाँधी, मार्क्स और दयानंद' पर भाषण दिए। प्रभाकर माचवे ने कलकत्ते में अपना दूसरा संस्कृत नाम 'मित्र' सार्थक किया। कलकत्ता प्रवास के दौरान कुरुक्षेत्र में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि प्रदान की और उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान से 21 हज़ार रुपये का पुरस्कार मिला। 1985 में मित्र परिषद, कलकत्ता ने ग्यारह हज़ार रुपये के साथ शाल देकर सम्मानित किया। *विश्वकर्मा* खंडकाव्य पर 1987 में दिल्ली की हिन्दी अकादमी ने ग्यारह हज़ार रु. का साहित्यिक कृति सम्मान तथा 1988 में केन्द्रीय हिन्दी संस्थान ने पुरस्कृत किया। 1990 में *विश्वकर्मा* पर बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद ने पुरस्कृत किया। 1972 में *टाल्स्टाय और भारत* किताब पर सोवियत भूमि पुरस्कार भी मिला था। 'कोली-कोता (ही)' से 21 नवंबर 83 को मुझे लिखा, "अपनी वन मैन राइटिंग फ़ैक्ट्री चलती ही रहती है। कोई माने या न माने, हम तो गाएँगे गाने। ऐसा अपना व्रत है। डॉ. नामवर सिंह आए थे।

कह गए कि शांतिनिकेतन में मेरा नाम 'विजिटिंग फ़ेलो' (या प्रोफ़ेसर) के नाते दे गए हैं। सब 'उपकार' करना चाहते हैं—मेरी गुणवत्ता बहुत गरूरी है—उसका उपचार कहाँ है? कृपया मुझ पर लिखना तो ये पत्र-वत्र मत 'कोट' करना। 'लोग सुनैं सब हाँसिहैं बाँटि न लैहें कोय। 'डॉ. रणजीत साहा मिले तो कहना—अकादमी में कुछ उलटफेर शायद होने जा रहा है। कलकत्ता अभी तो छूटता नहीं लगता है, फिर जैसी ऊपरवाले की मर्ज़ी, यायावरी भाग्य में बदी हो तो क्या बंगाला और क्या 'काला' पानी—सब कुछ है गुल्लाला।" भारतीय भाषा परिषद में फ़ोन होते हुए भी कलकत्ता के मित्रों को पोस्टकार्ड लिखते और डालने जाते थे। फ़ोन आता तो ही सुनते थे। टेलीफ़ोन से 'एलर्जी' थी।

बहुत जल्दी ही ऊपरवाले की मर्ज़ी चली और 1985 में यायावरी माचवे को वृंदावन शोध संस्थान का निदेशक बनाकर ले आई। 30 अगस्त 85 को कलकत्ता और भारतीय भाषा परिषद छोड़ दिया। "2 सितंबर से शोध संस्थान के सचिव और निदेशक बनना स्वीकार किया, क्योंकि दिल्ली से पास है। मन लायक़ काम है। पारिवारिक कारणों से दिल्ली रहना आवश्यक है। पत्नी का स्वास्थ्य ठीक नहीं। सुख की बात इतनी है कि दिल्ली से वृंदावन 124 किलोमीटर है। शनिवार-रविवार को दिल्ली आ-जा सकूँगा।" (4 जुलाई 85 का पत्र) उनकी उपस्थिति से कलकत्ता के हिन्दी लेखकों, हिन्दी अधिकारियों, आकाशवाणी और दूरदर्शन में कार्यरत हिन्दी कर्मियों का मनोबल ऊँचा हुआ था। डॉ. माचवे उनके लिए प्रकाश स्तंभ ही नहीं, आधार स्तंभ भी थे, साथ ही उन्हें नई दिशा और प्रस्थान देनेवाले पुरोधा भी थे।

एक और कारण भी था। "परिषद के समाचार अच्छे नहीं है। यहाँ साहित्य की समझवाले लोग कम हैं। मेरा मन डूबता जा रहा है। शीघ्र ही कोई दिल्ली में हज़ार दो हज़ार (बस) माहवार का घर बैठा (यानी जिसमें जाने-आने का 'यातायात' मराठी में अर्थ है 'कष्ट' न हो) काम मिल जाए तो वहीं आकर शांति से रहूँगा। मैं साहित्य की झाँय-झाँय और पचास साला पापड़ बेलकर थक गया। यह सब 'नेकी कर कुएँ में डाल' वाला मामला है।" (1 सितंबर 84 का पत्र) । परिषद में साहित्यिक आयोजनों की भरमार और पत्रिका *संदर्भ भारती* का संपादन करके भारतीय भाषा परिषद को उन्होंने सच्चे अर्थों में संगम तीर्थ बना दिया था। भाषिक एकता के लिए उन्होंने कलकत्ता में अतुलनीय कार्य किया। परिवार की साहित्य सभा 'मंगल गोष्ठी' में लगभग सभी भाषाओं के नए पुराने रचनाकार अपनी-अपनी रचनाओं का पाठ करते थे। रचनाओं पर पर्चे पढ़ जाते और चर्चाएँ होती थी। इन सारे साहित्यिक कार्यक्रमों की परिकल्पनाएँ और योजनाएँ माचवे की होती थीं, पर वे सदैव मुझे आगे रखते थे। वे साहित्यसेवियों का विराट सैन्य संचालन करने में कुशल थे। परिषद में आए दिन अतिथियों और अभ्यागत विद्वानों की सेवा भी वे अपना कार्य दायित्व मानते थे। खुद

ही अतिथियों की विछावन ठीक करते, चादर बदल देते, सामान सहेज देते और निदेशक आवास से अतिथियों को गर्म चाय ले जाकर देते।

दामाद एक तो कवि, दूसरे घर-परिवार की ज़िम्मेदारी से दूर मुंबई महानगरी में रहते थे। बेटी चेतना को ऑफ़िस के काम से बाहर जाना पड़ता था। चेतना की बेटियाँ छोटी थीं। उनका लालन-पालन नानी शरद माचवे को करना पड़ता था।

लेकिन वृंदावन जाकर माचवे बहुत पछताए। वहाँ उनका कोई स्वागत नहीं हुआ। रहने-खाने की व्यवस्था नहीं थी। पीने को पानी तक न था। प्रवंधकों ने जितने वादे किए थे—सब भूल गए। हारकर एक मास बाद ही प्रभाकर को ग्रेटर कैलाश पार्ट-2 में दिल्ली लौटना पड़ा जहाँ 'मसिजीवी' बनकर रहे। "आज कोटा से लौटे, कल पूना जा रहे हैं।" (18 नवंबर 87 का पत्र)। गर्मियों में मॉरीशस सरकार के निमंत्रण पर एक मास के लिए मारीशस हो आए। इंदौर में 70 वर्ष की बड़ी पकी उम्र में दैनिक अख़बार शुरू करने चले गए। संस्थापक- संपादक बन गए। बँधा-बँधाया अख़बार तो था नहीं, पर इंदौर जाना था, क्योंकि बिटिया चेतना भी बच्चों के साथ भोपाल आ गई थी। पर *चौथा संसार* का अजब संसार था। "अभी रहने का आवास अच्छा नहीं है। पीने का पानी सुबह-शाम प्रेशर कम होने से केवल 7 से 7.30 तक और शाम 5.45 से 6.45 तक आता है। दिल्ली के सुविधाजनक आवास में रहने पर यहाँ का रहना गाँवड़े में आने जैसा लगता है। 'आई' का मन यहाँ नहीं लग रहा। भोपाल में चेतना बच्चियाँ साथ हैं—बस यही संतोष है।" (इंदौर से बगैर तारीख़ का ख़त, हालाँकि ऐसा बहुत कम होता था। हमेशा तारीख़ डालते थे।) मराठी-भाषी होने के कारण माचवे को उनके परिवारी, निकट के लोग 'काका' कहते और श्रीमती शरद को 'आई' कहते थे। असंग-चेतना भी माचवे को डैडी-पापा नहीं, 'काका' ही कहते थे। हमारे मालवा में 'चाचा' को 'काका' कहते हैं। मैं भी उनको 'काका' ही कहता था, पर वे मेरे 'दादा' की उम्र के थे। घर में वे मराठी बोलते थे—जब मैं जाता तो कहते—'राजेन्द्र आला' (आया) शरद! 'राजेन्द्र आला।'

इंदौर में छह महीने के लिए गए थे, "देखते हैं, यहाँ कितने दिन तक चलता है। मैंने मन-मन में छह महीने दे रखे हैं। चल निकला, तो यहाँ रहेंगे—वरना वापिस 'दिल्ली चलो'।" (उपर्युक्त पत्र)

वापिस 'दिल्ली चलो' का उनका नारा पूरा नहीं हुआ। 15 दिसंबर 87 से दैनिक *चौथा संसार* शुरू हुआ। 17 जून 91 की दोपहर दो बजे तक मृत्युपर्यन्त वे इसके लिए काम करते रहे। लिखते-पढ़ते रहे। इस बीच 1990 में डॉ. वेदप्रताप वैदिक के आह्वान पर बुलाए गए अखिल भारतीय अंग्रेज़ी हटाओ सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष भी बने। वे *चौथा संसार* के सहयोगियों को कहते, "अपना क्या! जब भी मन हुआ, झोला-कमंडल उठाएँगे और चले जाएँगे।" लेकिन वे पत्रकारिता के आकर्षण के साथ मालवा के

कभी खंडित न होनेवाले मोह से ऐसे जुड़े कि मृत्यु ही उन्हें इस पाश से मुक्त कर सकी। ये सद्गृहस्थ थे, लेकिन अंतिम समय में गए तो अकेले गए। 'आई' दिल्ली में थीं। उन पर शोध कर रही श्रीमती संध्या भराड़े उनके पास थीं। उन्हें अपनी जीवनी लिखाने के बाद क़रीब एक बजे उन्होंने भोजन किया। अख़बार जाने के लिए जैसे ही खूँटी पर टँगे कपड़े उतारे, वैसे ही अचानक गिर पड़े तो फिर उठे नहीं। इनके मित्र *तारसप्तक* के कवि भारतभूषण अग्रवाल भी इसी तरह शिमला में गिरे थे और फिर उठे नहीं। गिरते ही माचवे के प्राण पंछी उड़ गए। गिर जाने के कारण सिर में हलकी सी चोट भी आई। पहला दिल का दौरा आख़िरी ही सावित हुआ। 26 दिसंबर को हम 'प्रभाकर पचहत्तर' मनाते, इसके पहले ही वे चले गए। उन्हें पक्का यक़ीन था कि भगवान उनको 75 वर्ष का होने तक जीवित रखेगा, तभी तो रतलाम के चित्रकार डॉ. दुर्गा शर्मा को उन्होंने लिखा था, "मैं आपके उत्सव में नहीं आ पाऊँगा। अभी जल्दी भी क्या है? जब मैं 75 वर्ष का हो जाऊँ (1992 में) तब तक रुकिये—भगवान तब तक मुझे जीवित रखेगा, ऐसी आशा है—तब आप मुझे याद कर लें।"

सुबह ही उन्होंने देश के चुनावी नतीजों पर संपादकीय लिखा था। उनके अध्ययन कक्ष की टेबल पर उनकी किताबें, पेन, चश्मा तथा पत्रादि ज्यों-के-त्यों रखे थे। सुबह ही उन्होंने दिल्ली अपने बेटे को पत्र लिखा था। इंदौर से विमान से उनका शव दूसरे दिन 18 जून को ही दिल्ली लाया जा सका। 17 जून 91 को आम चुनाव परिणामों के सिलसिले में मैं आकाशवाणी दिल्ली में ड्यूटी पर तैनात था। मेरे कवि-कथाकार-गीतकार मित्र डॉ. योगेन्द्र दत्त शर्मा ने एक पुर्जा लाकर 'वार्ता' का समाचार दिखाया था, "कविजी! आपके लिए दुःखद समाचार है।" 'वार्ता' की 'स्लिप' पढ़कर मैं सन्न रह गया। अज्ञेय की 1987 में मृत्यु के बाद मैं एक बार फिर विपन्न हो गया था। सामने 'भाषा पी.टी.आई. बिल्डिंग में डॉ. वेदप्रताप वैदिक के पास गया। वे विद्युत शवदाहगृह जाने की तैयारी कर रहे थे। मैं भी उनकी कार में साथ हो लिया। "तात! एक अलख है मन में, अंत समय में देख न पाया" ('तारसप्तक' से माँ की स्मृति में लिखी कविता—माचवे)। शाम पाँच बजे जब वहाँ पहुँचे तो सन्नाटा था। माचवे की दीर्घ, बलिष्ठ, खिलखिलाती, अपना और दूसरों का मज़ाक़ उड़ाती छवि, उनकी सुडौल काया, विद्युत शवदाहगृह में जल चुकी थी। मैं उनको आख़िरी बार प्रणाम भी न कर सका। मैं उनको काँधा भी न दे सका। माचवे ने मुक्तिबोध की तरह लेखकों को लकड़ी के लिए धर्मसंकट में नहीं डाला। "सब विज्ञान जहाँ पर हारे, उस देहली को पार कर गए, ठिठके हैं हम मरण हुआ रे।" वे आजीवन यंत्र विरोधी रहे, पर अंतिम समय में विद्युत शवदाहगृह में शव सौंपने के लिए कह गए थे। कई लेखकों को उनकी अंतिम क्रिया के बाद उनके निधन का समाचार मिला। वे अंतिम दर्शन भी

नहीं कर सके। सबके मुँह से यही निकला, "थोड़ी जल्दी की गई और ज़्यादती भी।" माचवे छाती ठोंककर चले गए। जैसे छाती ठोंककर वे जीते थे, उसी तरह गए—

छूट चले राह में नए पुराने साथी
मिट गए मार्गदर्शक यह कंपित बाती!
नंगी प्रकृति, वीरान! भयानक आगे,
मैं जाता हूँ, आओ, हो जिसकी छाती!

माचवे ने 'ज्ञेय' और 'अज्ञेय' किसी भी सीमांत को स्वीकार नहीं किया। वे दोनों ध्रुवांतों की तनी रस्सी पर चलते रहे हैं और यह 'चरैवेति' ही उनके जीवन की मुख्य प्रेरणा रही। आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने उनके बारे में ठीक ही कहा कि डॉ. माचवे ने हिन्दी को भारतीय साहित्य के साथ जोड़कर प्रस्तुत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। उनके साथ साहित्य अकादेमी में प्रकाशन सहायक का काम कर चुके आचार्य क्षेमचन्द्र सुमन ने कहा कि "हिन्दी साहित्य की ऐसी कोई विधा नहीं है, जिसमें श्री माचवे ने अपनी प्रतिभा का परिचय नहीं दिया हो। प्रयोगवादी काव्य संकलन उनकी कल्पना की उपज था। हिन्दी मराठी के साथ अंग्रेज़ी भाषा पर भी उनका समान अधिकार था।" नेमिचंद्र जैन उन्हें अपने 'साहित्य-जीवन का पहला गुरु' मानते थे। साहित्य के कई-कई आंदोलनों की छठी उनके हाथों ही पूजी गई और कई आंदोलनों को वे छठी का दूध याद दिलाते रहे।

संपादक डॉ. घनश्याम पंकज ने कहा था कि "डॉ. प्रभाकर माचवे के साथ ही हिन्दी साहित्य के उन बहुआयामी व्यक्तित्वों की परंपरा समाप्त होती है, जिन्होंने पाँचवें दशक के पश्चात् सोच और साहित्य के स्तर को गरिमा प्रदान की थी। एक ऐसा आधुनिक व्यक्तित्व था माचवेजी का, जिसके लेखन पर—आयु, परिवेश और नारों का कोई असर नहीं पड़ता था।"

भारतीय मूल्यों के हामी और आस्थावादी इस साहित्य सर्जक के हाथों कुछ भी सार्थक (साथ ही निरर्थक और अनर्गल भी) ओझल नहीं रहता था। उनमें साहित्य, समाज और सहृदय का आकर्षक मिश्रण था। उन्होंने विद्वत्ता का कृत्रिम नक़ाब नहीं ओढ़ा था।

मृणाल पांडे का मानना है कि हिन्दी साहित्य के सच्चे पंडित थे माचवेजी । वे हिन्दी के युवा लेखकों के लिए अभिभावक थे। डॉ. माचवे की बातों में युवाओं-सा अगाध उत्साह रहता था। वे मुक्तिबोध, बाबा नागार्जुन, राजकमल चौधरी, सुविमल बसाक और मलयराय चौधरी तक, दलित कविता, भूखी पीढ़ी और दिगंबर आंदोलन से लेकर लियोपार्ड सेडोर सेंघोर और ब्राडस्की तक धाराप्रवाह और पूरे अधिकार के साथ बोल सकते थे और लेखन के स्तर पर यह 'ऑपरेशन रेड डे नाइट' चलता रहता है।

विष्णु खरे मानते हैं कि "हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्यिकों के बीच का सेतु अब टूट गया है। यह सेतु अब कभी नहीं बन सकेगा। डॉ. माचवे ने हिन्दी को अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य के साथ जोड़ने का अद्‌भुत कार्य किया है। हिन्दी के नए साहित्यकारों को जितना प्रोत्साहन डॉ. माचवे से मिला है, उतना शायद ही किसी अन्य शीर्षस्थ साहित्यकार से मिला हो। एक ऐसा निष्कपट, निस्संकोची व्यक्तित्व जिसकी अगाध विद्वत्ता नौसिखियों से बात करने में रुकावट नहीं बनती थी। अपने कृतित्व के उत्कर्ष पर उन्होंने 70 वर्ष की उम्र में एक नए अख़बार *चौथा संसार* के संपादन को चुनौती की तरह लिया और सिद्ध किया कि कला और साहित्य के साथ संपादकी को जोड़कर एक नई रचनाधर्मिता पैदा की जा सकती है। वे 1988 से 17 जून 1991 तक इसके संपादक रहे।" (*नवभारत टाइम्स*, 18 जून 91)

जाने-माने आलोचक डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ने कहा, "डॉ. प्रभाकर माचवे का सर्वथा अप्रत्याशित रूप से हमारे बीच से विदा हो जाना अत्यंत दुःखद दुर्घटना है। तन-मन से पूर्ण स्वस्थ मज़बूती के साथ कलम पकड़े, प्रतिदिन कुछ-न-कुछ नया लिखनेवाले माचवेजी अचानक उस लोक में चले जाएँगे, जहाँ से कोई वापस नहीं आता, यह एक अविश्वसनीय-सा हादसा है।" (*नवभारत टाइम्स*, 20 जून 91)

"प्रभाकर माचवे की सर्वतोमुखी विलक्षण प्रतिभा से परिचित होने के कारण "अज्ञेयजी माचवे को 'प्रतिभापुंज' कहा करते थे। उनका कहना था कि भारतीय भाषाओं में कोई दूसरा माचवे नहीं है। यदि भारतीय भाषाओं में एक-एक माचवे होता तो भारत की भाषा समस्या और भारतीयता की सार्वभौम पहचान बनाने के लिए हमें किसी राजनेता का मुख नहीं ताकना पड़ता।" (विजयेन्द्र स्नातक, *नवभारत टाइम्स*, 20 जून 91)

उनके देहांत से केवल हिन्दी जगत ही शोकाकुल नहीं हुआ, संपूर्ण भारतीय वाङ्मय और मनीषा को गहरा आघात लगा।

डॉ. प्रभाकर माचवे का निधन हिन्दी भाषा और साहित्य की ऐसी अपूरणीय क्षति है, जिसके लिए हिन्दी ही नहीं, भारत की अन्य भाषाएँ भी अभावग्रस्त बनी रहेंगी। माचवे के अभाव में हिन्दी जगत् उस व्यक्ति की खोज करता रहेगा, जो भारतीय भाषाओं और साहित्यों के मध्य सेतु बनकर भारतीयता को सही परिप्रेक्ष्य में परिभाषित और प्रस्तुत करने में योग देता रहा था। माचवे ने भारत को कभी केवल भौगोलिक सीमाओं और धार्मिक मतवादों तक सीमित करके नहीं देखा। उन्होंने भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता को खोजने और उसमें सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। माचवे कभी विक्षुब्ध होकर अपने मित्रों के बीच कहा करते थे कि हिन्दी भाषा-भाषी उनको अहिन्दीभाषी मानते थे, जबकि अहिन्दीभाषी लेखक उनको हिन्दी के लेखक ही मानते थे। एक अहिन्दीभाषी जब हिन्दी में रचना करता है, तब

वह अपने साथ एक भाव एक विश्व, एक ख़ास रंगत, एक अलग तरह का अंदाज़ और ख़ुशबू भी लाता है, "जाने-अनजाने मैं इस स्थिति के लिए कोई रियायत नहीं माँगता हूँ, न मेरा कोई दावा है।" (प्रभाकर माचवे)

माचवे की मातृभाषा मराठी थी, किन्तु हिन्दी को उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर भारतीयता का जो रूप प्रस्तुत किया, वह जातीय गरिमा का समन्वित रूप है। माचवे ने पूर्वांचल की बाङ्ला, असमिया, ओड़िया, पश्चिम की गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, उर्दू, कश्मीरी और दक्षिण की तमिष़, तेलुगु, मलयाळम् तथा कन्नड आदि भाषाओं के साहित्य और साहित्यकारों से जीवंत परिचय स्थापित कर और आधुनिक साहित्यिक विविध गतिविधियों से नाता जोड़कर एक दूसरे के समीप लाने का प्रयास किया। हिन्दी का कोई दूसरा लेखक अद्यावधि इस दुष्कर कार्य को नहीं कर सका था। माचवे के बाद कोई दूसरा साहित्यकार इस दुर्गम क्षेत्र में प्रवेश कर सकेगा और एक दर्जन भाषाओं की 'जीनियस' से हमें भी परिचित करा सकेगा—इसमें संदेह है। वे वैदिक, औपनिषद, ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, मध्यकालीन बोध, आधुनिकता, अस्तित्वबोध (और अस्तित्व का संकट) उन्नीसवीं सदी और पुनर्जागरण, बीसवीं सदी के तमाम वाद-विवाद, महावीर प्रसाद द्विवेदी और आचार्य शुक्ल से लेकर एलेन गिन्सबर्ग तक पर बोल सकते थे।

हिन्दी के लेखकों में कोई दूसरा नहीं है, जिसका परिचय क्षेत्र माचवे के समान हो। भारत की सभी भाषाओं के समकालीन साहित्यकार उनसे परिचित थे और उनके द्वारा हिन्दी से भी परिचित होते थे। हिन्दी मराठी की सीमाओं में न बँधकर माचवे ने विश्वसाहित्य को अपनी साधना का विषय बनाया था। विश्व के प्रायः सभी स्थानों, विश्वविद्यालयों और सांस्कृतिक केन्द्रों में उनका आना-जाना लगा रहता था। अमेरिका, जापान, जर्मनी, श्रीलंका, नेपाल आदि देशों में अध्यापन कार्य के साथ भारतीय तत्त्व चिन्ता और गाँधी विचारधारा पर भाषण देकर भारत के वास्तविक रूप से विदेशियों को परिचित करानेवाले पहले व्याख्याता थे माचवे। इस अर्थ में वे भारत के सांस्कृतिक राजदूत थे। स.ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने उन्हें अपनी एक पुस्तक भेंट करते हुए लिखा है—'प्रतिभापुंज माचवे को'। वे सचमुच प्रतिभापुंज थे। उनकी जननी मराठी थी, पर हिन्दी भी थी। हिन्दी के लिए उन्होंने अपने को समर्पित कर दिया।

वे अपने लेखन, भाषण और प्रवचन से ही तेजस्वी, वर्चस्वी और वाग्मी बने थे। दंभी, अहंकारी, चापलूस साहित्यकारों और पत्रकारों के बीच रहकर भी उन्होंने कभी सहजता, सरलता और शालीनता नहीं छोड़ी थी। समस्त हिन्दी जगत में साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं वैचारिक जिज्ञासाओं का समाधान करनेवाले राहुल सांकृत्यायन के बाद प्रभाकर माचवे दूसरे व्यक्ति थे। कैसा भी प्रश्न हो, कैसी भी जटिल जिज्ञासा हो, माचवे के पास, कंप्यूटर की तरह उसका सुरुचिपूर्ण, संतोषजनक समाधान सदैव तैयार

रहता था। माचवे की मेधा और प्रतिभा चमत्कारी थी। अध्ययन उनका बहुत व्यापक था और वे स्मृति के अत्यंत धनी थे। फ्रायड, मार्क्स, नीत्शे, स्पेंगलर से लेकर दुनिया के किसी भी बड़े साहित्यकार के बारे में उनसे कभी पूछ लीजिए, तुरंत बता देते थे। पर इसके बावजूद उनमें जनपदीय ग्रामीण सहजता थी। किसी भी छोटी जगह में कोई ले जाए, कैसा भी आयोजन हो, बड़ी आत्मीयता के साथ वे चले जाते थे। अब तक उन्होंने कितने भाषण दिए होंगे—यह गिनती करना भी मुश्किल है। विष्णु खरे ने उनके देहांत पर 18 जून 91 के *नवभारत टाइम्स* में जो 'संपादकीय' लिखा था, वह इस दृष्टि से देखा जा सकता है— "पचास वर्षों के अपने लेखकीय जीवन में माचवे ने कितने पृष्ठ लिखे होंगे—यह गिनती करना मुश्किल है। अपने जीवन में उन्होंने किस-किस विधा में लिखा, यह शोध का विषय नहीं है, शोध का विषय तो यह है कि उन्होंने किस विधा में किस विषय पर नहीं लिखा। प्राचीन और नवीन साहित्य के बीच, कविता और कहानी के बीच, व्यंग्य और निबंध के बीच, समीक्षा और आलोचना के बीच उन्हें क्या प्रिय था—यह भी शोध का विषय है। अंत तक वे एक अच्छी कविता लिखने की हसरत लिए रहे।" *अतएव* में उन्होंने 'अहमदाबाद' पर लिखी कविता छपाई थी, जिसमें पचास साल पहले के शहर और वर्तमान शहर का अद्‌भुत चित्रण है।

माचवे के हिन्दी ग्रन्थों की संख्या अस्सी है, जिनमें साहित्य की सभी विधाओं का समावेश है। अनूदित ग्रन्थों की संख्या अठारह है। मराठी के तेरह ग्रंथ हैं। अंग्रेज़ी के मौलिक तथा संपादित ग्रंथों की संख्या सत्रह है। इस प्रकार उनकी छोटी-बड़ी सभी कृतियों की संख्या एक सौ तीस के लगभग बैठती है। पचास वर्ष के लेखन काल में तीन भाषाओं में एक सौ तीस पुस्तकें लिखने का सामर्थ्य कितनों में है? इसके अलावा बहुत सारी सामग्री इधर-उधर पत्र पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी है, जिनका संग्रह भी मुश्किल है। अपने अंतिम समय में वे ठेके पर दो-दो हज़ार रुपये में किताबें लिखने को मजबूर थे।

उनके कृतित्व का जैसा मूल्यांकन होना चाहिए था, नहीं हुआ। इसका कारण संभवतः यही हो सकता है कि वे किसी वर्ग विशेष से, विधा विशेष से जुड़े नहीं। माचवे की प्रतिभा अनेक विधाओं में अनेक रूपों में बिखरी दर्शित होती है। उस सारी प्रतिभा को स्थूल रूप में देखा जाए तो माचवे का योगदान अनुपम ही कहा जाएगा। *तार सप्तक* के कवि के रूप में वे बहुत पहले प्रतिष्ठित हो चुके थे। ललित कला, दर्शन, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, भाषा-विज्ञान लगभग हर महत्त्वपूर्ण विषय पर जीवित विश्वकोष की तरह लिखनेवाला यह मनीषी अपने को असफल कवि, असफल कहानी लेखक, असफल आलोचक, असफल चित्रकार, असफल उपन्यासकार और असफल निबंधकार मानते हुए निर्द्वन्द्व भाव से कहता था कि 'मैंने अंग्रेज़ी, मराठी, हिन्दी में जो कुछ लिखा है वह सब न कुछ के बराबर है। कुछ क्षण उसमें चमकीले

हो सकते हैं।" यदि वे अपना पूर्ण लेखन केवल काव्य के लिए ही समर्पित करते तो संभवतः आज अग्रिम पंक्ति में उनका नाम लिखा जाता। उन्हें जो अच्छा लगा, वहीं किया। आदर्श को कभी नहीं छोड़ा। निस्संग, निर्मोह, निरपेक्ष, निष्काम भाव से साहित्य और समाज-सेवा करते रहे। वे कहते थे, "मेरा नाम ही प्रभाकर है, जिसका दूसरा संस्कृत नाम मित्र है। दोनों का धर्म निर्लेप निरंतर चलते रहना है। मैं जीवन-भर यात्री रहा हूँ।" शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने उनके बारे में ठीक ही लिखा था कि "वे अपनी जन्मजात बेसब्री और प्रत्युत्पन्नमति की प्रखरता में प्रायः किसी विषय या व्यक्ति पर तत्काल प्रतिक्रिया व्यक्त कर देते हैं। इसी से अकारण ही उनके बहुत से शत्रु बन जाते हैं और वे यदा-कदा ग़लतफ़हमी का शिकार होते रहते हैं। अंदर और बाहर से स्फटिक शुभ्र यह व्यक्ति अपनी इस साफ़गोई के लिए बेहद बदनाम है, शायद यही उसकी नियति हो।"

शुद्ध भारतीय मनीषा के इस सर्जक ने हिन्दीसेवी के रूप में कविताएँ, काव्यानुवाद, सौ के ऊपर कहानियाँ, एक दर्जन से अधिक उपन्यास, आलोचना, निबंध, कई एकांकी, दर्शन चिन्तन, अनुवाद तथा संपादन वृत्ति आदि में लेखन करके अपनी कारयित्री बहुमुखी प्रतिभा का परिचय हिन्दी साहित्यिक संसार को दिया है। केवल दुःख इस बात का है कि उन्होंने अपनी आत्मकथा *फ्राम सेल्फ़ टू सेल्फ़* (विकास पब्लिशिंग हाउस) अंग्रेज़ी में क्यों लिखी? शायद प्रकाशक उसे अंग्रेज़ी में ही छापना चाहते थे और हिन्दी का कोई प्रकाशक उनकी आत्मकथा हिन्दी में छापने को तैयार नहीं था वर्ना माचवे हिन्दी में भी लिख सकते थे। अब तक इस आत्मकथा का अनुवाद हिन्दी में नहीं आ पाया है। यह हिन्दी साहित्य की एक और विडंबना है।

उन्होंने अंग्रेज़ी में बहुत लिखा। अनुवाद किया। अंग्रेज़ी से हिन्दी में एस. गोपाल की 'नेहरू' की जीवनी का तथा चमन नाहल के उपन्यास 'आज़ादी' का अनुवाद बुढ़ापे में मनोयोगपूर्वक साहित्य अकादेमी के लिए किया। बावजूद इसके वे अंग्रेज़ी के दास नहीं हुए। *नेशनल हेराल्ड* में बग़ैर पारिश्रमिक साहित्यिक कॉलम चलाया। 'नेशनल हेराल्ड' में ही बुद्ध के जीवन चरित्र पर चार पृष्ठ की सामग्री लिख दी। *हिन्दू* में पुस्तक समीक्षा लिखते थे। बाजवूद इसके अंग्रेज़ी में नाम कमाने की कभी इच्छा नहीं रखी। विज्ञान भवन, दिल्ली में बौद्ध धर्म पर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन का संचालन धाराप्रवाह अंग्रेज़ी में किया और अंग्रेज़ी में ही भाषण दिया। "कभी-कभी करना ही पड़ता है अंग्रेज़ी में, लेकिन कभी यह इच्छा नहीं कि अपन अंग्रेज़ी में कोई बहुत बड़ा नाम कमाएँ या परिश्रम से कोई प्रभावित हो जाएँ—किसी चीज़ से। यह बहुत बड़ा जिसे कहिए वरदान या आशीर्वाद गाँधीजी से मिला।"[1]

---

1. विक्रम कुमार के साथ वातचीत

कवि माचवे

1934 में बी.ए. करते हुए डॉ. प्रभाकर माचवे ने विधिवत् लेखन-क्षेत्र में पदार्पण किया था। 1934 में ही उनकी पहली कविता माखनलाल चतुर्वेदी ने *कर्मवीर* में प्रकाशित की थी। पहली कहानी उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द ने *हंस* में 1935 में और पहला लेख प्रथम स्थान पर *सुधा* में निराला ने छापा था। तब वे प्रभाकर बलवंत माचवे नाम से लिखते थे। 1938 में *हंस* के रेखाचित्रांक के लिए 'अज्ञेय : कितने ज्ञेय हुए' लेख लिखा और उनके संपर्क में आए। अज्ञेय ने *विशाल-भारत* में दो 'इंप्रेशनिस्ट' कविताएँ छापीं और फिर हिन्दी कविता के विकास के एक महत्त्वपूर्ण क्रम में 1943 में *तारसप्तक* का प्रकाशन हुआ। इस संकलन ने एक ओर छायावादी कविता के रूढ़ आग्रहों से अपने को विच्छिन्न किया तो दूसरी ओर द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण उद्भूत विघटित मूल्यों के प्रति आस्थाओं-अनास्थाओं को उभारा। *तारसप्तक* में सात कवि लिए गए थे—गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचंद्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, रामविलास शर्मा और अज्ञेय। *तारसप्तक* के इन सातों कवियों की मनःस्थिति उन दिनों न तो कुछ युवाओं की-सी थी, न वे असंयत् अह्म के विकृत कगारों पर खड़े थे। सातों ही सद्गृहस्थ थे, पढ़े-लिखे विवाहित थे। सुसंस्कृत, मध्यवर्गीय ग्रंथियों से ग्रस्त और अभिव्यक्ति की ईमानदारी में विश्वास रखते थे। स्वभाव से सातों प्रयोगधर्मा थे, स्वतंत्रचेता थे और साहित्य को गंभीरता से लेते थे। इस दृष्टि से *तारसप्तक* की अज्ञेय की भूमिका तथा उसमें सम्मिलित विभिन्न कवियों के वक्तव्य देखे जा सकते हैं। हिन्दी कविता के नए प्रतिमान गढ़ने के लिए इस प्रकाशन का कई मानों में पुनर्मूल्यांकन किया जाना चाहिए। यह संयोग ही था कि *तारसप्तक* में केवल सात ही कवि शामिल किए जा सके और अज्ञेय चाहते तो सात से अधिक कवि भी इसमें संकलित किए जा सकते थे। *आगामी कल* के संपादक प्रभागचंद्र शर्मा और वीरेन्द्रकुमार जैन को भी इसमें लेने की बात थी। डॉ. प्रभाकर माचवे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे और उनकी प्रतिभा का महत्त्वपूर्ण आयाम कविता था। वे प्रचंड लेखन क्षमता के लिए विख्यात थे और उनकी सैकड़ों कविताएँ अभी तक पुस्तकाकार नहीं आई हैं।

1936 में आगरा में एम.ए. (दर्शनशास्त्र) करते हुए माचवे अज्ञेयजी के संपर्क में आए। तब 'अज्ञेय' *सैनिक* का संपादन करते थे। जैनेन्द्र कुमार ने माचवे से उनसे

मिलने के लिए कहा। आगरा होटल में माचवे और नेमिचंद्र जैन उनसे मिलने गए। ये दोनों युवक अज्ञेय के पूर्व के क्रांतिकारी जीवन से बहुत आकृष्ट थे, तब अज्ञेय की अधिकतर रचनाएँ नहीं छपी थीं। सिर्फ *भग्नदूत* और कुछ कहानियाँ ही छपी थीं। *शेखर* उपन्यास लिख लिया गया था और इसकी पांडुलिपि माचवे ने पढ़ी थी। माचवे अज्ञेय को तब कुछ नवीन की तरह अलमस्ताना, अनिकेतन कवि समझते थे। अज्ञेय पर तब जेल में पढ़े डी. एच. लारेन्स और उत्तरकालीन रोमांटिक कवियों—ब्राउनिंग-क्रिश्चियाना रोजेंटी आदि का बहुत असर था। इन्हीं उत्तरकालीन रोमांटिकों पर शोध करनेवाले आलोचक रामविलास शर्मा भी बाद में शामिल किए गए 'सप्तक' में। माचवे अज्ञेय के अद्‌भुत व्यक्तित्व, सौम्य-मधुर बाह्य रूप और गहरी बौद्धिकता, पठन-पाठन से आतंकित थे। (*कल्पना* में इंटरव्यू, मई-जून 66)

तारसप्तक कलकत्ते में छपा। इसकी योजना इसके प्रकाशन से दो वर्ष पहले 1941 में दिल्ली में 'अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन' में बनी थी। उस समय कुछ उत्साही बंधुओं ने विचार किया कि छोटे-छोटे फुटकर संग्रह छापने के बजाय एक संयुक्त संग्रह छापा जाए, क्योंकि छोटे-छोटे संग्रहों की पहले तो छपाई एक समस्या होती है, फिर छपकर भी वे सागर में एक बूँद-से खो जाते हैं (देखें—*तारसप्तक* की अज्ञेय की प्रथम संस्करण की भूमिका, 'विवृति और पुरावृत्ति')। *तारसप्तक* में माचवे का प्रवेश दो-तीन कारणों से हुआ। एक तो 1941-42 के आसपास जो रोमांटिकता विरोधी काव्यवृत्ति हावी हो रही थी, उसके अनुकूल माचवे का कवि-व्यक्तित्व था। छंद, लय, परंपरागत बिम्ब विधान या अलंकरण विधियों के परंपरागत रूपों के विपरीत वे सबसे अधिक प्रयोगधर्मी थे और इसी कारण वे बाद में 'नकेनवाद' और यहाँ तक कि 'अकविता' के साथ भी संतुलन बैठा पाए।

'सप्तक' के संपादक का मूल सिद्धांत यह था कि संगृहीत सभी कवि ऐसे होंगे, जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं—जो यह दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है, केवल अन्वेषी ही अपने को मानते हैं। "उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक 'स्कूल' के नहीं है, किसी मंज़िल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं—राह नहीं, राहों के अन्वेषी। उनमें मतैक्य नहीं है। सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अलग-अलग है—जीवन के विषय में, समाज और धर्म और राजनीति के विषय में। काव्यवस्तु और शैली के, छंद और तुक के, कवि के दायित्वों के—प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है। यहाँ तक कि हमारे जगत् के ऐसे सर्वमान्य और स्वयंसिद्ध लौकिक सत्यों को भी वे समान रूप से स्वीकार नहीं करते, जैसे लोकतंत्र की आवश्यकता, उद्योगों का सामाजीकरण, यांत्रिक युद्ध की उपयोगिता, वनस्पति घी की बुराई अथवा काननबाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता आदि। वे सब परस्पर एक-दूसरे पर, एक दूसरे की जीवन-परिपाटी पर और—यहाँ तक कि

एक दूसरे के मित्रों और कुत्तों पर भी हँसते हैं।" (देखें वहीं उपर्युक्त) इन सातों कवियों में से कुत्ता किसी के भी पास नहीं था, फिर वे हँसने को कुत्ता कहाँ से लाते होंगे?

माचवे ने अपनी नोट-बुक और बहुत-सी हस्तलिखित रचनाएँ वात्स्यायनजी के पास भेजी थीं वल्कि नेमिचंदजी के पास उनकी कविताएँ कई वर्षों तक पड़ी रहीं। माचवे अपनी रचना को अनगढ़ मानते थे। "मैं अपने लिखने के प्रति बहुत धैर्य नहीं रखता। 'सहज' में मेरा विश्वास था।" (*कल्पना* का वही इंटरव्यू) ख़ैर, वात्स्यायन ने उसी ढेर में से कुछ कविताएँ चुनीं। कुछ कविताएँ उनकी समझ में नहीं आईं। माचवे ने जो जवाब दिया, उस पर अज्ञेय ने परिचय में व्यंग्य भी किया है–

"एक कविता की कुछ पंक्तियों के अर्थ के बारे में दुविधा जताई जाने पर कवि ने जो उत्तर दिया, वही उसका अच्छा परिचय है कि, "अंतिम पंक्तियों का अन्वय करने में आपको यों दिक़्क़त पड़ती होगी कि उसमें फ्रायड की शब्दावली में 'बर्जाइवेन हो गया है–यानी एक पूरी की पूरी पंक्ति मैं भूल गया हूँ। उन पंक्तियों को यों पढ़िए ...या अपने मन से दुबारा लिख लीजिए या निकाल दीजिए। अर्थ पाने का सबसे अच्छा (जैनेन्द्राइट) तरीक़ा यही है, उस हिस्से या वाक्य को हटा दिया जाए।" ('सप्तक' का परिचय)

माचवे ने अंग्रेज़ी और मराठी कविता काफ़ी पढ़ी थी और असल में तब एक तरह की छटपटाहट महसूस कर रहे थे। वे 'छायावाद' और 'प्रगतिवाद' दोनों से असंतुष्ट थे। उन्हें दोनों में अतिरंजना और अयथार्थ लगता था। *तारसप्तक* के अपने वक्तव्य में उन्होंने लिखा कि 'छाया' (वाद) को 'प्रगति' (वाद) और 'प्रगति को छाया' मानने का वह युग था सन् 43! आधे विश्वयुद्ध के बीच फासिज़्म-विरोधी संघर्ष चल रहा था। दोनों वादों के प्रति असंतुष्टि की स्थिति में उनकी वह छटपटाहट नई राह की तलाश करती रही। इसका प्रभाव माचवे की कविता पर अवश्य पड़ा।

तारसप्तक के सभी कवि फ़ासिस्टविरोधी थे। कुछ कवि कम्युनिस्ट थे। नेमिचंद, भारतभूषण, रामविलास शर्मा, वात्स्यायन, मानवेन्द्रनाथ राय के मत को मानते थे। माचवे राय के लेखन से बहुत प्रभावित थे। मुक्तिबोध साम्यवाद से आविष्ट थे, पर पार्टी मेम्बर नहीं थे। माचवे का 'तारसप्तक' में 'रूस की लाल सेना' पर एक सॉनेट है। शायद युद्ध पर सीधी यही एक कविता *तारसप्तक* में है। शीर्षक भी रूसी में है–'प्रा इंद्रस्तव्युते सोवित्स्की सोयूज' (सोवियत यूनियन ज़िन्दाबाद)।

माचवे मूलतः गाँधीवादी थे और नेहरू में भी उनकी अगाध श्रद्धा थी।

माचवे के मन में गाँधी के शांति मार्ग और अहिंसा के प्रति आशंका होने पर भी अवज्ञा का भाव नहीं था। माचवे उस समय निरी बौद्धिकता के खोखलेपन से परिचित हो चले थे। वे मज़दूरों के बीच कार्य कर चुके थे। सेवाग्राम आश्रम के संपर्क में आ चुके थे। तर्कशास्त्र पढ़ा चुके थे। उनकी 'सप्तक' में संकलित कविता 'मैं और ख़ाली चा की प्याली' इसका साक्ष्य देती है कि आदर्शवादी वाग्जाल से दूर कहीं-न-कहीं एक गहरी विसंगति है—एक प्रकार की अस्तित्ववादी शून्य-चेतना!

तारसप्तक की मूल कल्पना माचवे की ही थी। उन्होंने ही सबसे पहले शाजापुर में नेमिचंद जैन और मुक्तिबोध से इसकी चर्चा की। मराठी में रविकिरण-मंडल के सप्तर्षि जिस पर अंकित होते हैं, ऐसी कई कविता पुस्तकें छपी थीं। इसलिए पहला नाम 'सशीर्षक' माचवे ने सुझाया। संगीत प्रेमी नेमिचंद ने 'सप्तक' सुझाया। दिल्ली में फ़ासिस्ट-विरोधी लेखक सम्मेलन के समय 'तार' माचवे ने जोड़ा। अंततः वात्स्यायनजी ने 'तारसप्तक' चुना। उन्होंने कलकत्ते में मुखपृष्ठ बनवाया, सात सीढ़ियों वाला बावड़ी में उतरना, अमूर्त। "अज्ञेयजी में संगठन क्षमता थी, इसलिए *तारसप्तक* का प्रकाशन भी हुआ और व्यापक चर्चा भी हुई। पर इस योजना के वास्तविक जन्मदाता माचवेजी ही थे।" (गिरिजाकुमार माथुर, *जनसत्ता* 21 जून 91)

तारसप्तक के परिचय में संपादक अज्ञेय ने माचवे के लिए लिखा है :

"प्रभाकर मराठी और हिन्दी दोनों में लिखते हैं और पर्याप्त लिखते हैं—कविता, कहानी, परिहास, आलोचना और 'भूमिकाएँ भी'। पत्र-पत्रिकाओं के अलावा कई रचनाएँ पुस्तकों में भी छपी हैं। चित्रकला में भी विशेष रुचि है। घूमने में भी थी—पर क्रमशः अब कम होती जा रही मालूम होती है, जो कि गुरुत्व के साधारण विषय के अनुकूल ही है।"

अनुभव में डूबने-तिराने, चिन्तन करने और अनुभव की भावनात्मक लय पकड़कर कविता रचने की प्रवृत्ति माचवे में शुरू से ही थी। यह लहर उत्पन्न होते ही वे रच डालते थे। अर्थ निकालने में, कविता बनाने में व्यर्थ माथापच्ची नहीं करते थे और प्रतिभा के विस्फोट पर लिखते जाते थे। सहजता पर अधिक ज़ोर देते थे। प्रयाग शुक्ल ने 'कविता नदी' के लिए माचवेजी की 'मालवा की नदियाँ' कविता चुनते समय भी यह लक्ष्य किया है।

तारसप्तक में ही दिए गए कवि-वक्तव्य से माचवे के कवि व्यक्तित्व को समझने में भी मदद मिलेगी :

"यहाँ पर अपनी रचनाओं के संबंध में, न तो भावुकतावश आत्मसमर्पण से भरी और न ही स्वमताग्रह से पाठकों को पूर्वदूषित करने के तथाकथित बुद्धिवादी ढंग

की कैफ़ीयत मैं देना चाहता हूँ। *कविता और पाठक के बीच सीधा भाव विनिमय होने के पक्ष में हूँ :* इन दोनों के बीच में व्यक्ति कवि को लाना मैं अवांछित और अप्रस्तुत समझता हूँ। अतः अपनी कविताओं के विषय में मौन रहकर जब कविता मात्र पर, कविता नामक जातिबोधक संज्ञा पर ('भाववाचक' संज्ञा पर नहीं, क्योंकि अधिकांश 'भाववाचक' शब्द अभावसूचक ही होते हैं) मुखर होने का विचार करता हूँ, तव काव्यरचना के आदिकारण और अंतिम हेतु के संबंध में भी कोई सर्वसामान्य नियम बनाना मुझे तर्कसंगत नहीं जान पड़ता। कला की अपनी स्वयंनिर्मित तर्कपद्धति होती है। इसलिए रचना की प्रक्रिया पर ही कुछ कहा जा सकता है—वस्तुविषय, व्यंजना आदि पर नहीं।"

माचवे कविता और पाठक के बीच सीधे भाव विनिमय के आजीवन पक्षधर रहे। माचवे मानते रहे कि युग की वाणी जैसे ग़रीबों पर निष्क्रिय आँसू बहाकर या बुर्जुआ को दस-पाँच गाली देकर समाप्त नहीं हो जाती, वैसे ही युग-युग की वाणी भी नामियों की भाषा का विवेकशून्य अनुकरण कर, अप्रस्तुत अलंकार-योजना से ही पूरी नहीं होगी। असल में काल के मानदंड से वाणी का यह वर्गीकरण ही ग़लत है।

माचवे मानते थे कि व्यक्तिगत अनुभव के कुछ क्षण ऐसे होते हैं, जो अत्यधिक सामाजिक आशय से गर्भित रहते हैं। वे अपनी कविता में जीवन भर व्यक्तिगत अनुभवों को सामाजिक आशयों से जोड़कर अभिव्यक्त करते रहे। सामाजिक स्थितियों को लेकर वे शब्द-क्रीड़ा अधिक करते थे।

एक बार माचवे ने अपनी कविताओं को चित्रकला से शब्द उधार-लेकर 'इंप्रेशनिस्ट' और 'बिम्बवादी' शब्द से विश्लेषित किया था। लेकिन वे यह भी मानते थे कि 'बिम्बवाद' ही कविता नहीं है, अगर आप यह मानें कि 'बिम्बवाद' भी कविता है। वे लिखते हैं, "संभव है कि मुझमें का चित्रकार मुझमें के कवि पर तब हावी हो रहा हो। संभव हैं किसलर, सेज़ान, गोया, डी रेवेरा की चित्र-शैलीगत वर्णयोजना, रिल्के, एलियट, लारेंस, स्पेंडर, सेंसिल डे, लुईस और ऑडेन की पद्य—रचनागत वर्ण योजना से टक्कर न खाती हो परंतु चूँकि मैं 'विशेष' को साधारण से अविच्छिन्न और अविभाज्य मानता हूँ। एक ओर जहाँ 'स्वांतः सुखाय' को स्वरति कहने से मैं नहीं हिचकता, दूसरी ओर त्रात्स्की के 'कला हथौड़ा है' वाले नारे से भी सहमत नहीं होना चाहता।" माचवे ने कभी कला को हथौड़ा नहीं बनाया। वे 'कला कला के लिए ही है' पर काम करते रहे।

माचवे की कविता ने छायावाद की कविता के विरुद्ध विद्रोह किया और लिखा :

"छायावाद हिस्टीरिया की भाँति हिन्दी कविता का एक मानसिक रोग है। दोनों में स्मृतियों की प्रच्छन्न और अज्ञात पुनरावृत्ति तथा तज्जन्य अहेतुक त्रास (फ्रायड की 'भाषा में एर्साट्ज बिल्डुंग' और 'फ्लीरिएरेंडे आंगस्ट') दिखाई देते हैं।

अतः एक तरुण स्वस्थमना कवि के लिए छायावाद का माध्यम, स्थाविर, स्त्रैण और जीर्ण जान पड़ता है।"

प्रसिद्ध आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा अपनी किताब 'प्रगतिवादी कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि' में लिखते हैं, "जनवरी-फ़रवरी 54 की 'कल्पना' में प्रकाशित उनके लेख—'मेरी कविता' से लगता है कि वे एम.ए. करने के बाद सीधे इंदौर और अहमदाबाद के मिल मज़दूरों में काम करने पहुँचे थे। इसकी प्रेरणा उन्हें आगरे में अपने छात्र-जीवन के दौरान ही मिली होगी। 1937 में दर्शन में एम.ए. करके उन्नीस वर्ष का तरुण माचवे जब इंदौर और अहमदाबाद के मिल मज़दूरों में कई महीने काम करता रहा, तब उसकी कविता ने सामाजिक स्वर पाया। माचवे की कविताओं पर प्रगतिवाद का जो रंग चढ़ा, वह कोरा किताबी क्रांति का 'कोडवेल क्लाइवजेंडर' का काढ़ा नहीं था।"

इस तरह डॉ. रामविलास शर्मा ने उन्हें 'प्रगतिवादी' कवि घोषित किया।

लेकिन माचवे ने *प्रगतिवाद* को भी नहीं अपनाया—उसे भी उन्होंने 'अपरिपक्व' पाया, "पेंडुलम अपनी प्रतिक्रिया से जिस प्रकार दूसरा छोर पकड़ लेता है, ऐतिहासिक जड़वाद के अध्ययन से और भारतीय राजनीतिक क्षितिज के घूमसंकुल हो जाने से, नए कवियों ने छायावाद तजकर प्रगतिवाद को अपनाया। अपनी प्रारंभिक अवस्था में यह अपरिपक्व और नाम का ही प्रगतिवाद है। उसकी जड़ें जीवन में धँसी हुई न होने से जो स्फूर्ति वह पाता है, वह एक बुद्धिजीवी, ऊर्ध्वमूल, सीमित वर्ग से ही है (जो कि अधुना चौतरफ़ा फ्रस्ट्रेशन का शिकार है), फलतः 'प्रगतिवाद' में एक अनावश्यक प्रदर्शनप्रियता, दमित इच्छाओं से निर्मित होनेवाला औधत्य की सीमा तक पहुँचनेवाला परपीड़न प्रेम और प्रचार के विद्रूप कुनैन पर कला का शर्करावरण पहनाने की या राजनीतिक पक्ष विशेष का 'माइक' कविता को बनाने की प्रवृत्ति आदि दोष रह गए हैं।"

माचवे ने एक समय की लोकप्रिय कविता—राष्ट्रीय कविता—में भी उपर्युक्त दोनों दोष देखे थे, "इन दोनों वादों को छोड़ हिन्दी कविता में एक समय की बहुत लोकप्रिय बनी हुई राष्ट्रीयतावाद की लहर अब धीमे-धीमे मंद पड़ती जा रही है, क्योंकि छायावाद और प्रगतिवाद दोनों के समन्वयजन्य दोष उसमें इकट्ठे आ गए हैं, क्योंकि वे प्रगति को छाया समझते हैं और छाया को ही प्रगति।"

माचवे की दृष्टि में हिन्दी कविता में अभी विषयों की विविधता, व्यंग्य का तीक्ष्ण और सुरुचिपूर्ण प्रयोग, प्रकृति के संबंध में अधिक वैज्ञानिक दृष्टि, जन-जीवन के निकटतम जाकर ग्राम-गीत, लोकगाथा और बाज़ारू कहलाई जाकर हेय मानी

जानेवाली बहुत सशक्त और मुहावरेदार ज़बान से नए-नए शब्द-रूपों और कल्पना चित्रों को ग्रहण करना और प्रयोगशील अभिव्यंजना के प्रति औदार्य आना चाहिए।"

कहना न होगा कि माचवे की कविता में ये सभी गुण पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। उनकी कविता में विषयों की विविधता है, व्यंग्य का तीक्ष्ण मगर सुरुचिपूर्ण प्रयोग है, प्रकृति का वैज्ञानिक दृष्टि से चित्रण है और बहुत सशक्त तथा मुहावरेदार ज़बान से नए-नए शब्दरूप गढ़ना और प्रयोगशीलता के प्रति उदारता मिलती है।

वे कविता की भाषा को आमूलचूल बदल देना चाहते थे, "कवितागत भाषा को भावानुकूल अदलने-बदलने का पूरा अधिकार होना ही चाहिए। ज्यों-ज्यों कविता की भाषा अधिकाधिक आम जनता की भाषा बनती चलेगी, उसमें प्रादेशिक शब्द अधिक आएँगे और यह इष्ट ही होगा। मगर शब्दों की अमिधामूला लक्षणा की अपेक्षा व्यंजना शक्ति पर मेरी अधिक श्रद्धा है। शब्दों के लिखने में भी कई ध्वनियों को हिन्दी लिपि नहीं लिख सकती है।"

तारसप्तक में माचवे 'निराला, नवीन और नरेन्द्र शर्मा' को भाषा के संबंध में आदर्श मानते थे, क्योंकि तीनों ने रोमांटिक, रियलिस्टिक और क्लासिकल शैलियों में अच्छे प्रयोग किए हैं। बाद के संस्करण में उन्होंने नरेन्द्र शर्मा का नाम हटा दिया, यह कहकर कि उनकी बाद की कृतियों ने मुझे उस तरह प्रेरित-प्रभावित नहीं किया।

माचवे मानते थे कि "नवोन्मेष से विस्फूरित और उर्त्सजित कल्पना की हिन्दी कविता में कमी है। उसके लिए हमें अपना अलंकार-विधान आमूल बदलना होगा, उपमान माँजने होंगे, रूपकों की क़लई खोलनी होगी। उत्प्रेक्षाएँ सचमुच भाव के उत्स से प्रेरित हैं या नहीं—यह देखना होगा। हमारी कविता में पाए जानेवाले अधिकांश भाव चित्र, कल्पना चित्र या बिम्ब (इमेज़) बच्चों के से निरे शाब्दिक, सहमृत और परंपरागत होते हैं। इन शाब्दिक, साहचर्यात्मक और पारंपरिक बिम्बों के बजाय हमें राग और ज्ञान से पूरित ऐन्द्रिय, आवेगाश्रित और अभिजात बिम्बों की सृष्टि करनी है। हमारे अलंकार अधिक वैज्ञानिक, आधुनिक और वैशेषिक हों अथवा निरे अलंकार-सांख्य से निरंलकार काव्यरचना बेहतर है।"

छंदोरचना के विषय में भी माचवे का कहना था कि—हमें नव-नवीन प्रयोग अपनाने होंगे। अन्य भाषाओं के शब्द ही नहीं, छंद भी हम लें। निराला द्वारा हिन्दी में लाई गई मुक्त, विषमचरणवर्तिनी, अतुकांत अक्षर-मात्रिक छंद पर आश्रित तालात्मक पद्य रचना को वे श्रेयस्कर मानते थे।

माचवे मानते थे कि गीतों को हम एकदम छोड़ न दें, "गीतों की ओर से हम एकदम निराश न हो जाएँ"—अब तो हिन्दी में बिलकुल संगीतानुकूल न होने पर भी 'गीत' कहा जाता है। कई प्रसिद्ध गीतकार भी उनके मित्र थे। वे वीरेन्द्र मिश्र, ठाकुर

प्रसाद सिंह और बशीर अहमद 'मयूख' के गीतों की भी उतने ही मुक्तकंठ से प्रशंसा करते थे, जितनी कि राजेश जोशी की कविता की।

इतना सब लिखने के बावजूद माचवे अपनी कविता को एकदम काव्यदोषरहित नहीं मानते थे। वे अपनी रचना को सब शर्तों को पूरी करनेवाली नहीं मानते थे। वे मानते थे कि दोषों की स्वीकृति हमें उत्तरोत्तर बल देती है और आत्मालोचन तो बुद्धियुक्त होने का प्रथम लक्षण है।

'सप्तक' के संपादक अज्ञेय ने लिखा था कि *तारसप्तक* की कविता वैसी जड़ाऊ कविता नहीं है, वह वैसी हो भी नहीं सकती। यह बात और कवियों पर लागू हो न हो, माचवे की कविता पर अक्षरशः लागू होती है। उनकी कविता वैसी जड़ाऊ कविता नहीं है, वह वैसी हो भी नहीं सकती।

माचवे ने सप्तक की कविताओं में उद्घोष किया था, *"दो कण लाया हूँ आज ज्ञान की झोली में।"* उनके ज्ञान में भी संशय भरा था। इन्हीं कविताओं में एक नवीन शब्दप्रयोग देखें, *"वर्षा / जिसने कर्षक को आकर्षा / स्वस्थ, मस्त बूँदों ने आकर / पित्तग्रस्त धरती को स्पर्शा। सहसा जलमय हुए झील, रत्नाकर, नाले, नदिया, निर्झर / यकसा जन-जन का मन हर्षा। धारा आज धरा से मिलती / तभी उसे मिलता छुटकारा,* लिखने के बाद– *"निःक्षत्रिय करने को मानो आज उठ खड़ी / सरोष जनता लेकर फरसा / ऐसी वर्षा!"* यहाँ जनता का रोष भी व्यक्त हुआ है। प्रगतिवादी चेतना इस छायावादी-प्रकृतिवादी कविता में समा गई है।

'वह एक' कविता में अख़बार बेचनेवाला लड़का है, जिसे राजनीति से कुछ लेना-देना नहीं है, *"कहता है वह पुकार / आज चीन-जापान लड़ाई / कल हिटलर की चढ़ाई / और परसों श्री गाँधी का उपवास / वह क्या समझता है राजनीति / खाक धूल।"...*"उसको न परवाह कांगरेस नैया की पतवार / बाम पक्ष पे है या हरामपक्ष पे है / वह जानता है महावार / तनखा साढ़े तीन कल्हार!/* उसको है जिन्ना, बोस, *हिटलर, पटेल, घोष, / ये सब बस निरेनाम / उसका तो फ़क़त काम।"*

तारसप्तक की कविताओं में ही 'निम्न मध्य वर्ग' नाम की कविता है, जो प्रगतिवादी चेतना से संपन्न है, *"नोन-तेल लकड़ी की फिक्र में लगे घुन-से / मकड़ी के जाले से, कोल्हू के बैल–से / मकां नहीं रहने को, फिर भी ये घुन से / गंदे, अँधियारे और बदबू भरे, दड़बों में जनते हैं बच्चे / इनका ही इस विराट आर्थिक विपन्नता की / चक्की में पिस-पिसकर / बन रहा महीन ख़ुद आटा है।"* आज भी निम्न-मध्यवर्ग विराट् आर्थिक विपन्नता की चक्की में पिस रहा है। 1943 की इस कविता को डॉ. लोठार लुत्से ने जर्मनी में अनूदित कर हाइडलबर्ग से प्रकाशित *भारतीय कविता संग्रह* में और 1974 में रूसी में ई. चेलिशेव ने प्रकाशित किया। ये कविता उज्जैन में लिखी गई थी।

तारसप्तक में ही माचवे की एक कविता है—'बीसवीं सदी।' बीसवीं सदी का अब जब समापन हो गया है और हम 21वीं सदी में प्रवेश कर गए हैं, यह कविता और सार्थक हो गई है :

बीसवीं सदी ने हमें क्या दिया?
मोटर, रेल, विमान, क्रांतियाँ,
ये बेतार, सवाक् चित्रपट्,
काग़ज़ मुद्रा, आर्थिक संकट,
गति अतिशयता, वेगातुरता,
कहीं प्रपीड़न, कहीं प्रचुरता!
इन सारे आविष्कारों ने
जग को उन्नत किस तरह किया?
क्रय-विक्रय के संस्कारों ने
और आलसी हमें कर दिया!
बढ़ती शोषण-यंत्र-क्रिया,
बीसवीं सदी ने यही दिया?

× × ×

इस ओर पड़ेगा रे अकाल,
दूसरी ओर धन से विहाल!

तारसप्तक के बाद वाले संस्करण में 'माता की मृत्यु पर' बड़ी ही मार्मिक कविता है। हमारे जाने हिन्दी साहित्य में माँ की मृत्यु पर ऐसी करुण अन्य कोई कविता नहीं है। प्रभाकर की माँ की मृत्यु 1953 में जब हुई, तब माचवे उनके पास नहीं थे और देर से पहुँचने के कारण अंतिम दर्शन भी नहीं कर पाए थे। यह पीड़ा भी इसमें व्यक्त हुई है

मात! एक कलख है मन में, अंत समय में देख न पाया,
आत्मक्रीव के उड़ जाने पर बची शून्य पिंजर-सी काया!
और देखकर भी क्या करता? सब विज्ञान जहाँ पर हारे,
उस देहली को पार कर गई, ठिठके हैं हम 'मरण दुआरे।'
'मेरे प्रबल, अदम्य, जुझारू, प्राण-पिंड की तुम निर्मात्री!
कितने कष्ट सहे बचपन से, दैन्य, आप्तजनविरध कसाले,
मैं जो कुछ हूँ आज तुम्हारी ही आशीष, प्रसादी, मूर्ता
गई, आज तुम देख प्रफुल्लपरिवार, कामना सब संपूर्ता।

माचवेजी की माँ निरक्षर थी, अतः उन्होंने कितने ही धर्मग्रंथ माँ को पढ़कर सुनाए थे :

तुमने मुझे भक्ति सिखलाई संतों की विट्ठल से प्रतिश्रुत,
मैंने कितने धर्मग्रंथ पढ़ तुम्हें सुनाए हरिलीलामृत!
जीवन-भर तुम रही निरक्षर, आज हुआ 'अक्षर' से परिचय,
ढाई अक्षर प्रेम जानकर, शूल तजे करतीं, मधु-संचय!

माचवे ने अपनी माता को तीर्थयात्राएँ भी कराई थीं :

मुझे याद है तीर्थस्थान की वे यात्राएँ मेरी माता!
काशी, चित्रकूट, पंढरपुर, अक्षयवट, मथुरा, मान्धाता!
और अपापा नगरी में उस महाकाल की भैरव-अर्चा।

यह कविता बाद में *अनुक्षण* (1959) कविता-संग्रह में भी संकलित की गई है।

तारसप्तक का पुनर्मुद्रण पूरे तेईस साल बाद 1966 में हुआ। *तारसप्तक* के नए संस्करण में 'पुनश्च' के अंतर्गत लिखे वक्तव्य में माचवे ने लिखा, "हिन्दी कविता के गए बीस वर्ष काफ़ी उठा-पटक, आवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तन, वाद-विवाद के बीते। इस शोर-शराबे में कभी-कभी मेरी आवाज़ भी तूती–जैसी बोलती रही थी। अब मैं सारे आलोचन-प्रत्यालोचन से ऊब गया हूँ। जिस साहित्य में नए प्रयोगों को प्रतिष्ठित होने में बीस साल लगे, आज के वैज्ञानिक गतिप्रधान युग में, उसके बारे में कुछ भी कहना व्यर्थ है। मैं मानता हूँ कि 'प्रयोगवाद' और 'नई कविता' के नाम पर बहुत बकवास छपती रहती है और उस पर अस्सी प्रतिशत चर्चा (विशेषतया विश्वविद्यालयों में) अज्ञान और पूर्वग्रह से दूषित होती है, या थोथे, असंगत और बेमानी आक्षेप होते हैं। इसलिए ये दोनों मुझे नहीं छूते। मैं रोमैंटिक फ़ैलेसी में नहीं पढ़ना चाहता। ताजी प्रज्ञा के साथ नित्य-नूतन-नवनवीन प्रयोगशीलता की महत्ता मानता हूँ।" माचवे ने अज्ञेय, भारतभूषण अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर और मुक्तिबोध की कविता पर कई बार लिखा, भाषण दिए, सम्मतियाँ दीं, किन्तु इनमें से किसी ने इनकी कविता पर एक पंक्ति लिखना भी उचित नहीं समझा।

सप्तक के कवियों में माचवे ने अपने को सबसे कमज़ोर अंश माना है। "सबसे कमज़ोर अंश तो मैं स्वयं हूँ, ऐसा आज आकर लगता है (*कल्पना* / मई-जून 66 में श्याम परमार को दिया गया इंटरव्यू)।

इसी 'पुनश्च' में एक और मार्के की बात माचवे ने लिखी, "माचवे का जमीर इस मामले में मुक्त है।" यह माचवे के व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। उनका खेल खुला फर्रुखाबादी रहा है। हर मामले में माचवे का जमीर मुक्त रहा।

तीसरी बात–जो न कहनी पड़ती तो अच्छा होता–मगर–कही–"आज मैं अपने को द्विभाषी मानता हूँ। एक अहिन्दी भाषी जब हिन्दी में रचना करता है, तो

अपने साथ एक भव, एक विश्व, एक ख़ास रंगत, एक तरह का अलग अंदाज़ और खुशबू भी लाता है—अनजाने। मैं इस स्थिति के लिए कोई रियायत नहीं माँगता हूँ, न मेरा कोई दावा है। नम्र निवेदन है कि मेरी हिन्दी एक मराठीभाषी की हिन्दी है। कविता और भाषा का सूक्ष्म संबंध जाननेवालों के लिए इतना काफ़ी है।"

उपर्युक्त वक्तव्य सब अहिन्दी भाषी लेखकों पर भी एक टिप्पणी है, जो हरदम रियायत ही माँगते रहते हैं। वे हिन्दी के होकर—कभी नहीं रहते। अपने को आजीवन अहिन्दी भाषी ही मानते रहते हैं। माचवे को हिन्दी के साहित्यकार और आलोचक आजीवन अहिन्दीभाषी मानते रहे, पर वे आजीवन मराठी और हिन्दी के बीच आवाजाही करते रहे। वे आजीवन हिन्दी, मराठी, अंग्रेज़ी में लिखते, अनुवाद करते रहे। भाषाओं के बीच सेतु का काम करते रहे। हिन्दू धर्म हो, मुस्लिम धर्म हो, बौद्ध धर्म हो, ईसाई धर्म हो, वे बराबर धर्मों के बीच समन्वय स्थापित करते रहे। गाँधी हो, नानक हो, विनोबा हो, बुद्ध हो, मार्क्स हो—वे सब पर समान अधिकार के साथ बोलते रहे। वे दिल्ली में थे तो बाङ्लाभाषी उन्हें रवीन्द्रनाथ पर बोलने के लिए बुलाते थे, उर्दू वाले इक़बाल, सज्जाद ज़हीर और ग़ालिब पर बुलवाते थे, पंजाबी भाई वीरसिंह पर और केरल वाले वल्लतोल तथा भारती पर बुलवाते थे। आंध्र वाले गुर्जदा अप्पाराव पर, असम वाले बेजबरुआ पर और गुजरात वाले झवेरचंद मेघानी और उमाशंकर जोशी पर बोलने के लिए बुलाते थे। राष्ट्रीय भाषाओं में तो माचवे प्रतिष्ठित और लोकप्रिय थे ही। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी वे बुलाए जाते थे। अमेरिकी सूचना सेवा ने उन्हें वाल्ट व्हिटमैन पर—तथा रूसी सांस्कृतिक केन्द्र ने उन्हें गोर्की और दोस्तोएव्स्की तथा शोलोखोव और आइंस्टीन पर बोलने के लिए बुलाया। वे 1959 में विस्कांसिन यूनिवर्सिटी में भारतीय साहित्य की पढ़ाई शुरू कराने अमेरिका गए और दो तीन साल वहीं रहे। तब वहाँ के पुस्तकालयों में गाँधी, नेहरू और टैगोर की कुछ किताबों के अलावा—किसी अन्य भारतीय लेखक की पुस्तकें नहीं थी—माचवे के जाने के बाद अन्य लेखकों की किताबें भी गईं। माचवे खद्दर पहनकर अमेरिका में गाँधी अध्ययन करते-कराते रहे। 1961 में लौटे तो 'गोट्टी' (बकरा) दाढ़ी लेकर जो उनके चेहरे पर अच्छी फबती थी। 'गोरी नज़रों में हम' (माचवे) छा गए। चौथे काव्य संग्रह *मेपल* (अमेरिका का एक प्रसिद्ध पेड़) में अमेरिका प्रवास की कविताएँ हैं। अमेरिका में भी माचवेजी ने भारतीय भाषाओं तथा साहित्य और भारत विद्या के बारे में जागृति पैदा करने का बहुत अच्छा काम किया। अमेरिका के महानगरों पर माचवे ने कविताएँ लिखी है।

माचवे का पहला कविता संग्रह *स्वप्नभंग* 1957 में छपा, जिसमें उनके सौ श्रेष्ठ सॉनेट संकलित थे। 1938 से 56 तक लिखी इन कविताओं का चुनाव सप्तक के ही

एक अन्य कवि प्रयागनारायण त्रिपाठी ने किया है। '38' शीर्षक एक सॉनेट है। शीर्षक अंक में देने की प्रथा माचवे ने ही शुरू की, यह उनका प्रयोगवाद है :

इतने दुःख के घन, पावस, कुहरे बीते
पर यहाँ रहा घट क्यों कोरा का कोरा
क्या मीत मिले विपरीत, शत्रु मनचीते
बिखरा-सा 'मन का' हार, खो गया डोरा
वह अंतःसूत्र मुझे फिर से गहने दो
दो शक्ति और भी दुःख निज में सहने दो। (1955)

कविता में आत्मपरीक्षण है, फिर से अंतःसूत्र को पकड़कर शक्ति संचित करने की आकांक्षा है। सॉनेट का व्याकरण और अनुशासन भी ठीक सँभाला गया है। ऐसी ही आत्मबोध वाली कई कविताएँ माचवे ने लिखी हैं :

हम हैं कुछ बने हुए उस धात के
मैं नहीं हूँ काँच
मैं कोई जड़ चित्र नहीं हूँ।

अपनी कविता पर भी माचवे ने लिखा है कि वह औरों से अलग कैसे हैं—

नहीं विदूपक, समानुरंजक, कविता हमें न पेशा है
आज लोकप्रिय, कल कलई खुलने का नहीं अंदेशा है।
नित्य नये नखरेवाली क्या मातु शारदा नेशा है
नहीं गीत हम रचते तुम्हें रिझाने को, बे-वात को (56)

छंद का संधान आद्योपांत सुगठित है। अनुप्रास, शब्दों का नया प्रयोग, शब्दक्रीड़ा के अन्यान्य विन्यास भी आकर्षक है, पूरी कविता में गीतों का निषेध और नई कविता का स्वागत किया गया है। *'मैं नहीं हूँ काँच'* / *'मैं कोई जड़ चित्र नहीं हूँ'* / *'ज़िन्दगी मेरी विसर्ग बनी हुई।'* / में आत्मव्यथा के साथ-साथ समाजबोध भी गहरा है।

गहरे अध्येता माचवे जब कविता लिखने बैठते थे तो उन्हें संसार भर की देशी-विदेशी कविताएँ, सूक्तियाँ याद आने लगती थीं और उनकी कविता विविध संदर्भों से भरा एक निबंध बन जाती थी, उनकी निजी नहीं रह पाती थी। उन्हें रीति कविता की शब्दछटाओं का संस्कार था, उर्दू कविता की रवानगी उन्हें पता थी। आधुनिक कवियों का अध्ययन वे निरंतर करते रहते थे। आधुनिक परिवेश में प्राप्त जीवन संकेतों का संचय करके विविध ढंग से छंदों का उपयोजन करने की क्षमता

उनमें थी। इन उपादानों के कारण वे ऋतु गीत लिखते थे तो उसमें भी केवल गीतात्मकता नहीं थी, उसमें भी बौद्धिकता आ जाती थी।

उनकी प्रेम कविताओं में भी शब्दों की अनेकांगी क्रीड़ा का जुनून ऐसा सवार होता है कि प्रणय की अनुभूति भी दब-सी जाती है। माचवे की 'ओ चंदन' कविता में छायावाद का शब्दभंडार अपनी पूरी क्षमता के साथ मौजूद है। 'स्वप्नभंग' के सॉनेट पर कवि त्रिलोचन ने लिखा था, "मैंने इस रचना से सॉनेट शैली के बारे में बहुत कुछ जाना है। माचवेजी सॉनेट शैली के हिन्दी में प्रथम समर्थ कवि थे।"

अनुभूति के उद्रेक से अधिक माचवे किसी विषय से चमत्कृत होकर कविता रचना की ओर बढ़ते हैं। यह विषय अख़बार में पढ़ी कोई घटना हो सकती है, कार्ला की गुफाएँ हो सकती है, भुवनेश्वर में पार्वती का शिल्प हो सकता है, दंतेवाड़ा में देवी पूजन हो सकता है, गोंडों का नाच हो सकता है। माचवे की प्रतिभा इस बात में है कि वे नाच की ध्वनियों से या मूर्ति की सुगठित रेखाओं से तो प्रभावित होते ही हैं, उसकी वर्तमान दशा से क्षुब्ध भी होते है और काव्य विषय का विशिष्ट इतिहास भी उनके सामने रहता है। फिर वे वर्णन के प्रवाह में संस्कृत, उर्दू, अंग्रेज़ी, फ़ारसी के शब्द लेकर एक शब्दचित्र प्रस्तुत करते है। 'जुहू', 'पुरानी कहानी', 'नई दिल्ली', 'आगरा', 'कलिंगपोङ् की हार, 'असी धार', 'दक्षिण के मन्दिर', 'असमा कामाख्या', 'ब्रह्मपुत्र कामाक्षी', 'मालव सरिताएँ', 'मेपल', 'कीकेगार्द की समाधि पर' इत्यादि अनेक कविताएँ पढ़कर लगता है—विभिन्न स्थानों और स्थापत्यों को काव्य विषय बनानेवाला ऐसा यायावर कवि हिन्दी में दूसरा नहीं है।

विशिष्ट स्थानों का भूगोल उनके सामने स्पष्ट रहता है और उनके ऐतिहासिक तथा जनप्रचलित रूप भी। अनेक संदर्भों से पुष्ट उनकी कविताएँ है। अनेक नगरों, अनेक लोगों, अनेक नायकों, अनेक जातियों, अनेक जीव-जंतुओं और अनेक फूलों-फलों से भरी हुई माचवे जैसी जीवनसंपन्न कविता हिन्दी में दूसरी नहीं हैं। उनकी कविता एक क्षण में समूची पृथ्वी की परिक्रमा कर डालती है। एक राडार की तरह दिग-दिगंत में हो रही कोई भी गतिविधि उनकी कविता से ओझल नहीं रह पाती। उनके जैसे विशाल मानचित्र वाला कोई दूसरा कवि हिन्दी में नहीं है।

माचवे का कवि अपने सफरी झोले में अनगिनत स्थलों के चित्र भरता जाता है और उसी समय उनका कंप्यूटर सदृश दिमाग़ असंख्य ऐतिहासिक प्रसंगों या संदर्भों को अपनी कविता में बुनता जाता है। वे अपने को चिरयायावर मानते हैं—

मेरे मन के भीतर कोई जिप्सी या कि घुमंतू बैठा,

यात्रा, यात्रा, केवल यात्रा, यात्रा, यात्रा, यात्रा, यात्रा, यात्रा

माचवे का कवि कभी-कभार अकेलेपन की व्यथा से व्यथित होता है, दरिद्रता से आकुल-व्याकुल भी होता है, लेकिन पाठक को वे आकुल-व्याकुल और व्यथित नहीं

होने देते। उनका बौद्धिक, उनका चिन्तक और उनका व्यंग्यकार एकदम उन पर हावी होकर उन्हें फटकार देता है। इसलिए कविता अधिक मर्मस्पर्शी एवं कालजयी नहीं बन पाती है। व्यंग्य धीरे-धीरे उनके लिए एक दीवार बन जाता है। 'अंतर्राष्ट्रीय गुड़िया प्रदर्शनी देखकर', 'एक भारतीय फ़िल्म देखकर' 'माडर्न आर्ट देखकर' उन्होंने जो कविताएँ लिखी है, वे अपने समय के हिसाब से हिन्दी में नए विषयों पर लिखी जा रही पहली कविताएँ तो है, पर इनमें व्यंग्य प्राधान्य हो गया है। कवि की मानवीय करुणा इनमें कम है इतिहास का ज्ञान, स्थान और स्थापत्य की समृद्ध विविधता, छंद का प्रभुत्व और भाषा को लेकर एक विलक्षण, व्यापक दृष्टिकोण उनमें है।" (चंद्रकांत बांदिवडेकर)

दूसरा कविता-संग्रह *अनुक्षण* 1959 में प्रकाशित हुआ, जिसका चयन प्रख्यात कवि राजकमल चौधरी ने किया था। माचवे की जन्मजात प्रयोगधर्मिता के अनेक चिह्न यहाँ दिखाई देते है। प्रगतिवादी दृष्टिसंपन्न कुछ गीत, कुछ कविताएँ भी है। माचवे के प्रणयगीत अपेक्षाकृत संख्या में कम है। बच्चन के प्रभाव में 'चिरप्रवासी प्राण मेरे' जैसे गीत ज़रूर है।

अनुक्षण की 65 कविताओं में 'राही' (1939), दो रुबाइयाँ (1936), गीत (1936), दो षट्पदियाँ (1947) कुछ स्मृतिअंकन करनेवाली रचनाएँ हैं। 'राही और राजकिशोरी' के मानसिक आंदोलन भी तीव्रता और गहनता के आयाम से अछूते हैं। माचवे की शब्द-संपन्नता का गहरा अहसास यह कृति अवश्य कराती है। कभी उर्दू शब्दों का साहसपूर्वक प्रयोग मूल भाषिक संरचना को शिथिल कर देता है। 'मार्क्स और गाँधी' कविता में भी जीवन दृष्टियों, जीवन-प्रणालियों, जीवन संभावनाओं का एक छंदोबद्ध आलेख है। 'गाँधी और रवीन्द्रनाथ' कविता में दोनों कवियों का तुलनात्मक एवं सहृदयतापूर्ण चित्रण है। 'झंझा और वृक्ष' में राष्ट्रवृक्ष का शब्दचित्रण अधिक है। रोम्या रोलां के प्रति श्रद्धावनत होते हैं तो निराला की स्वर्णजयंती पर उनके व्यक्तित्व को छंदबद्ध करते हैं। गाँधी की हत्या के बाद व्यथित हृदय से माचवे 'दीवाली 1948' मनाते हैं, *"है प्रकाशमय डगर, मगर हृदय तो मुँद गया/दीप-पर्व है / परंतु विश्वदीप बुझ गया है।"*

'गाँधी की मृत्यु पर' एक अन्य कविता उन्होंने 'गाँधी शतदल' में लिखी है, जिसमें जार्ज बर्नाड शॉ आदि के उद्धरण दिए हैं। 'गाँधी की हँसी' पर भी उन्होंने दो कविताएँ लिखी हैं। 'जुहू' सॉनेट में भी गाँधी के मंत्रभारित व्यक्तित्व का सम्मोहक चित्रण है। 'गाँधी के आश्रम में' किताब भी उन्होंने लिखी है। 'गाँधी का भारतीय साहित्य पर प्रभाव' जैसे लेख भी लिखे हैं। अंत तक वे खद्दर पहनते रहे -गाँधीवादी रहे।

'द्रुत विलंबित', 'आ गए तुम भूलते से', 'ताज और फाँसीघर', 'स्मृतिचिह्न', 'राखी' जैसी कविताओं की भावात्मक उर्वर ज़मीन है।

'कस्मै देवाय' जैसे गीतों में वे मज़दूरों के सामने नतमस्तक हो जाते हैं, तो 'भूख और दीपावली' जैसी यथार्थवादी कविता भी लिखते हैं। 'गुलमोहर' जैसी कल्पनाप्रसूत कविता भी लिखते हैं तो 'मध्यवर्ग का ऐसा ही मन' जैसी निबंधात्मक कविता भी छंद में लिखते हैं। 'मनु का वंशज', 'मुक्ति दिवस', 'विजयादशमी 1948' जैसी अनेक कविताएँ इस बात का प्रमाण हैं कि किसी भी विषय पर कविता लिखने का जैसा हुनर माचवे के पास है, वैसा अन्यत्र नहीं। वे अजस्र मेधावान कवि हैं। 'अंतरीप' जैसी कविता महत् के प्रति समर्पण भाव का भव्य शब्दचित्र प्रस्तुत करती है। 'पंद्रह का पहाड़ा' और 'लामज़हब' सॉनेट में बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया गया है।

आठ साल के अंतराल के बाद 1967 में *मेपल* कविता-संग्रह छपा उनके अमेरिका से लौटने के बाद। इतना लंबा अंतराल इस बात का प्रमाण है कि माचवे का कवि गद्य की अनजानी गलियों में भटक गया था। उनका चिन्तन-मनन, अख़बारी लेखन, समीक्षकीय चुटकियाँ, व्यंग्य की पकौड़ियाँ उन पर हावी हो गई थीं। जीवन की मजबूरियों के आगे माचवे ने अपने को केवल कवि नहीं रहने दिया था। 1967 में प्रकाशित *मेपल* का चयन उनके योग्य शिष्य कवि डॉ. श्याम परमार ने किया था। ये यायावरी कविताएँ 1959 सितंबर से 1961 अगस्त तक लिखी गईं थीं। अधिकांश में विदेश यात्राओं की स्मृतियाँ हैं। 'पास्तरनाक की मृत्यु पर' कविता भी इसमें हैं। विदेश में रहकर अपने देश की, देश बंधुओं की, स्नेहीजनों की स्मृतियाँ याद आती हैं। अनेक मूड्स कविताओं पर हावी हैं। आधुनिक बुद्धिवादी मनुष्य की निष्क्रियता, अकेलापन, त्रिशंकु अवस्था का चित्रण हैं, तो पूर्व और पश्चिम के मूल्यगत अंतर और जीवनपद्धतियों की भी चर्चा है। उन्होंने इसे 'विदेश में लिखी कविताओं का संग्रह' कहा है। "जिन्होंने लिखना सिखाया—उन 'निराला' जी और राहुलजी को" समर्पित हैं।

इसमें प्रयोगधर्मिता के साथ-साथ शब्द खिलवाड़ अधिक है। 'मिसिसिपी नदी' सहित अनेक विदेशी स्थलों के मार्मिक संदर्भ हैं। हिन्दी में यायावर साहित्यकार अज्ञेय कहलाते हैं, लेकिन सबसे अधिक विदेशी स्थानों पर लिखी कविताएँ माचवे के यहाँ ही मिलेंगी। संस्कृति और सभ्यता का घात-प्रतिघात, सभ्यताओं का आलोड़न उनके यहाँ प्रमुखता से व्यक्त हुआ है। 'फ्रिस्को-सेन-फ्रांसिस्को' तो कभी 'इमर्सन के घर पर' जैसी कविता में पूर्व-पश्चिम के मिलन बिन्दुओं का संकेत किया गया है। माचवे की इन कविताओं की यात्रा करते हुए हम उनके स्मृति-कपाट की अजस्रता से चकित होते हैं। शब्दों के साथ स्थान-स्थान पर शरारतपूर्ण बौद्धिक आघात मिलते हैं, जो सुखद होते हैं। अनुप्रास, यमक, श्लेष अपनी पूरी शक्ति के साथ यहाँ उपस्थित होते हैं। अनेक मुहावरों, कहावतों, लोकविख्यात उक्तियों और काव्य पंक्तियों की घुसपैठ कविता को व्यंजनापूर्ण बना देती है।

माचवे के यहाँ किसी भाषा के लिए कोई वर्जना नहीं। शब्द धमाचौकड़ी मचाते हैं। कई बार अनावश्यक संदर्भ प्रदर्शन काव्यमर्म पर आघात पहुँचाता है। "मैं वैसे ही बौद्धिक कवि के नाते बदनाम हूँ"—वे *मेपल* में लिखते हैं।

मेपल के 21 वर्ष बाद माचवे ने *विश्वकर्मा* नामक खंडकाव्य लिखा, जो 1988 में प्रकाशित हुआ और उनके जीवनकाल में प्रकाशित यह अंतिम काव्य-कृति है। कविता-संग्रह के प्रकाशन में 21 वर्ष का अंतराल फिर इस बात का द्योतक है कि उनका कवि गद्य-पद्य की दुनिया में खो-सा गया था। हिन्दी प्रदेश में नित नए चमकीले अख़बार निकलने लगे थे, जो उनसे अख़बारी लेखन की माँग करते थे। अखबारों की ख़बरों पर वे चुटीले व्यंग्य लिखते थे। बाद में वे ख़ुद भी एक अख़बार *चौथा संसार* के संपादक बन गए। कविता यदा-कदा किसी लघु पत्रिका के आग्रह पर लिखते थे और विरक्त हो जाते थे। कविता से कुछ आता नहीं था। गद्य काफ़ी कमाऊ 'पूत' था।

विश्वकर्मा खंडकाव्य एक संदर्भ खोजी विद्वान् का लिखा अधिक मालूम पड़ता है, एक मर्मस्पर्शी कवि का लिखा नहीं। इसका कारण स्पष्ट है। उन्होंने मिथककाव्य लिखने की चुनौती स्वीकार की , "मैंने सोचा कि पुराणकथा के मिथक को आधुनिक प्रासंगिकता से जोड़ूँ—इसलिए मैंने प्रकृति के आदिम शक्ति-स्रोत 'सूर्य' के विरोध में विश्वकर्मा की वैज्ञानिक तांत्रिक अहंता को खड़ा किया है।" यह प्रतीकात्मकता बौद्धिक जोड़तोड़ का परिणाम है। अनुभूत्यात्मक प्रबल विस्फोट की प्रतीक-परिणति से उपजा काव्य जिस तरह हमें आकर्षित करता है, वैसा *विश्वकर्मा* नहीं कर पाता। अनुभव और चिन्तन की काव्यात्मक अभिव्यक्ति का रूप यह खंडकाव्य नहीं ले पाता और यहाँ माचवे की भाषिक क्रीड़ा और मेधागत चमत्कार भी लगभग अनुपस्थित है। (चंद्रकांत वांदिवडेकर)

विद्वान् कवि ने इस खंडकाव्य की भूमिका में सारे पुराख्यानों और मिथकों को विश्लेषित कर, खोज-बीनकर प्राचीन ऐतिहासिक मुख्यताओं में नए अर्थ ढूँढ़े हैं। प्रकृति के परम आदि तत्त्व से मुँह मोड़कर विकृति को ही संस्कृति बतानेवाले तथाकथित विज्ञान और तंत्र-ज्ञान (टेक्नॉलाजी) के अंधे प्रेमी मनुष्य को ही मशीन बना देंगे—इस पीड़ा को कवि ने इसमें व्यक्त किया है। इस खंडकाव्य पर माचवे को बिहार का राष्ट्रभाषा पुरस्कार और हिन्दी अकादमी, दिल्ली का पुरस्कार भी मिला था।

उनके खंडकाव्य पर प्रसिद्ध साहित्यकार विष्णु प्रभाकर ने अच्छी समीक्षा लिखी है, "अपने खंडकाव्य 'विश्वकर्मा' में उन्होंने सूर्य के जिस सौम्य रूप को देखा है, वह आज के यंत्रयुग से त्रस्त मनुष्य के लिए संजीवनी के समान है।" पुराणों के प्रतीकों की पुनर्व्याख्या करते हुए उन्होंने आध्यात्मिक और विज्ञान के संघर्ष के दुष्परिणामों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है।

बार-बार ज्ञान को बटोरकर निर्विघ्न
बार-बार करता है वही-वही मूर्खता
जैसे युद्ध, संहार, परस्पर अपकार।

"इस काव्य के अंत में आज के विज्ञान से निर्मित संहारक अस्त्रों से त्रस्त मानव के लिए जो संदेश कवि ने दिया है, वही समस्या का समाधान है कि किसी मनुष्य को सूर्य बनने का सौभाग्य नहीं मिल सका। हम इतना ही सोचें कि हम सब प्रकाश-पथगामी हों।

"यह प्रकाश पथगामी होना ही शाश्वत खोज है और यही संहारक शक्तियों से मुक्त होने का मार्ग है। आज विश्व की दो बड़ी संहारक शक्तियाँ इसी प्रकाशपथ की खोज में व्याकुल है। 'खोज' की इस व्याकुलता के कारण ही मुझे लगता है कि माचवे जी मेरे बहुत पास हैं। यह पास होना रूप का नहीं भाव का है।" (एक प्रतिभापुंज थे प्रभाकर माचवे; विष्णु प्रभाकर, *दिनमान टाइम्स*।

हिन्दी खंडकाव्य तब तक इतिवृत्त, गीति-नाट्य या मुक्ति-छंद वक्तव्यादि पद्धतियों से भरे थे। *विश्वकर्मा* इन सब शैलियों को अपनाकर अपनी बात कहता है। पुराणों से कुछ पद्यानुवाद अच्छे बन पड़े हैं।

मराठी-हिन्दी के जाने-माने समीक्षक डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर ने माचवे के कवि व्यक्तित्व पर ठीक ही लिखा है, "प्रभाकर माचवे में अच्छे कवि की अनेक संभावनाएँ थीं, परंतु संभवतः दो मूलभूत कमियों के कारण वे एक सीमा तक ही पहुँच पाए। ऐसा लगता है कि कवि व्यक्तित्व में महानता की ओर जाने के लिए स्वस्थ रोमांटिक वृत्ति की ज़रूरत होती है, जिसके कारण उसकी संवेदनशीलता और कल्पनाशीलता न केवल उदग्र रहती है बल्कि उसके सातत्य और विकास के लिए भी वह बहुत ज़रूरी होती है। इस स्वस्थ रोमांटिक वृत्ति का माचवे में अभाव था। मनुष्य और मनुष्य के बीच के उष्मायुक्त संबंधों की कविता उनके यहाँ विरल है। जितनी उनकी मेधा संग्रहशील थी, उतनी उनकी अनुभूति संभवतः निस्संग होती जा रही थी।"

माचवे अंतिम क्षण तक अच्छी, महान्, कालजयी कविता लिखने का सपना सँजोए रहे। वे अंतिम क्षण तक अच्छी कविता के मर्मज्ञ पाठक रहे। माचवे जिस रूप में भी कवि थे, सच्चे कवि थे और उस मुक़ाम पर भी कितने पहुँच पाते हैं? सीमाएँ सबकी होती हैं, माचवे की भी हैं, किन्तु उपन्यास, कविता, व्यंग्य तथा आलोचना में उनके योगदान को रेखांकित न करना ज़्यादती होगी। एकाध 'सफल' कृति लिखकर उसी को भुनाते रहने की अपेक्षा, वे जीवनभर 'असफल' कृतियाँ लिखते रहे, नित नए प्रयोग करते रहे और सृजन्रत रहे। सफल कवि हो जाते तो शायद चूक जाते। प्रयोग करने की क्षमता नहीं रहती।

अपने कवि व्यक्तित्व की सीमाओं पर खुद माचवे ने *मेपल* की भूमिका (कुछ गद्य पंक्तियाँ) में लिखा है, "मैं अपने लिखे के बारे में बहुत असावधान हूँ। न एक बार लिखा 'रिवाइज़' करता हूँ, न व्यवस्थित संग्रह रखता हूँ, और न छपने-छपाने की विशेष चिन्ता ही करता हूँ। जो सहज प्र ा में आ गया, ठीक; वर्ना जो अवेरा-समेटा नहीं गया, जो खो गया, उसका क्या गिला?"

जो माचवे को प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, अज्ञेयवादी मानते हैं, वे कृपया सुन लें, "तब से अब तक इस तरह की कविता लिखने के लिए मुझे कई गालियाँ खानी पड़ी हैं/कुछ गिनाऊँ—एक, अज्ञेयपंथी (जब सच्चाई यह है कि 'अज्ञेय' ने कवि माचवे पर एक पंक्ति भी कभी कहीं नहीं लिखी); दो 'प्रगतिवादी' (सच्चाई यह है कि प्रगतिवादी आलोचकों ने लेखक माचवे का नाम कभी से अपनी लिस्ट से खारिज कर दिया और अब तो हुक़्क़ा-पानी भी बंद कर दिया है), तीन, प्रयोगवादी (बाद में 'नई कविता' वालों ने बरायेकरम यह कलंक भी धोने में सहायता की), चार, 'अवसरवादी' (यह शब्द हिन्दी में अपने आपको छोड़ किसी भी 'और' या 'ग़ैर' पर आसानी से फेंका जा सकता है), पाँच, 'डेरिवेटिव' या 'पश्चिम के नक़लची—ये सब आलोचना मुझे नहीं छूती—न मेरी 'कवि भाषा' को। छठा तरीक़ा मुझ जैसे लेखक को हल्का साबित करने का, 'कोरे व्यंग्य लेखक हैं, परिहासप्रिय व्यक्ति, किसी चीज़ के बारे में सीरियस नहीं।" (*मेपल* की भूमिका से) उनका व्यक्तित्व—जीवंत व्यक्तित्व—उनकी कविता को ग्रहण लगा रहा था। जीवन के अंतिम वर्षों में भी उनकी कविताएँ लौट आती थीं। "आज भी प्रायः सभी अच्छे हिन्दी पत्रों से मेरी कविताएँ बराबर लौटकर आ जाती हैं। जब तक वे नहीं छपने लायक़ समझी जाती हैं, मुझे लगता है कि मैं कुछ महत्त्वपूर्ण, जीवंत, सप्राण और सच्चोट लिख रहा हूँ।"

माचवे ने अच्छे कवि के गुण इसी भूमिका में गिनाए हैं :

– कवि किसी का अनुयायी नहीं हो सकता। न किसी खेमे का, न घोषणा-पत्र का।
– कवि आलोचना से बनता-बढ़ता नहीं, जीवनानुभूति की प्रगाढ़ता और उत्कृष्टता से बनता-बिगड़ता है।
– कवि प्रभाव से नहीं, स्वभाव से बनता है। (विदेश में 'बीटनीक' संप्रदाय के कवियों का भी संपर्क पाया। उनसे चौंका। पर उनका अनुकरण, नक़ल मेरी रचनाओं में नहीं है, यह बताना ज़रूरी नहीं। प्रभावों से अनुकृति हो जाती है, कृति नहीं)
– कवि एतद्दृशत्व-मात्र का विरोधी, चिर-विद्रोही, अराजकतावादी होता है। यहीं वह राजनीतिवाले से भिन्न है।

— कवि अपनी मुक्ति का कामी और खोजी होता है। शब्द उसके माध्यम हैं। इसी में औरों की मुक्ति निहित है।

— कवि के लिए कुछ भी वर्जनीय या बहिष्कार्य नहीं। न कोई अनुभूति, न किसी भाषा के शब्द, न कोई राजनीतिक-सामाजिक मत 'वाद', न कोई दर्शन-अभाव. ..शर्त यह है कि वह सब खाद है, जिससे एक नया अंकुर बनता है, जिसे कहते हैं 'कविता'। (इस सूत्र का माचवे ने अपनी कविता में अक्षरशः पालन किया) लेखक-कवि जानता है, रस स्थिति नहीं, गति है। रस एक प्रक्रिया है। इसीलिए सब रस के शास्त्र शुक्राचार्य से एकाक्ष बन जाते हैं, जब कवि एक डग में तीन लोक नाप जाता है और फिर भी दस 'उंगल' बचा रह जाता है।...

— मानव-समाज और मानव-मन अरस्तू या मम्मट के ज़माने से बहुत आगे निकल आया। इसलिए विशुद्ध रसवादी और शाश्वत कलावादी भी चीन के आक्रमण के बाद 'युगधर्म' की बात करने लगे और पग-पग पर मार्क्स का नाम जपनेवाले 'रस-तरंग' लिखने लगे। हिन्दी कविता की आलोचना को अभी वयप्राप्त (एडल्ट) बनना है।

— कवि की एकमात्र अपेक्षा और अस्तित्व की शर्त है स्वतंत्रता।

— कवि—हर सक्षम, सफल कवि—एक अपवाद होता है। वह अपनी नई राह स्वयं बनाता है। अपने वक्ष का (धमनियों की अस्थियों का) चूर्ण जलाकर। 'एकला चलो' उसका व्रत है।

— कवि एक 'लोफर' और 'सूफी' (शॉ का ट्रैम्प-आर्टिस्ट-प्रोफ़ट) सर्व-कामी और निष्काम, प्रतिक्षण समूचे अतीत का स्पंदन अनुभव करनेवाला भविष्यवक्ता, एक ही समय और एक ही स्थान में समय और स्थान की प्रतिपत्ति और निर्णय, एक साथ स्वीकृति और अस्वीकृति होता है। इसीलिए वह तर्कातीत और-अतर्क्य होता है।

अपने कवि कर्म के बारे में हेयता का भाव भी इसी भूमिका में व्यक्त हुआ है, "मेरी रचनाएँ बहुत ओछी, हेठी, हल्की हैं। शायद यही भान, इसी शून्य से 'पूर्णमिदम्' की ओर बहने की कोशिश में मेरी रचनाएँ निकली हैं। उनमें लिखे बिना न जी सकने की अनिवार्यता की प्रेरणा है। ये तुक-ताल-हीन, शब्दसौष्ठव-शून्य, जान-बूझकर 'निरर्थक' रचनाएँ आपके सामने हैं।"

माचवे के देहांत के उपरांत 1993 में उनके बेटे असंग ने उनकी कविताओं का एक संचयन *जहाँ शब्द है* नाम से प्रकाशित किया, जिसका चयन पद्मधर त्रिपाठी ने किया। इसमें उनके चारों संग्रहों से चुनकर कविताएँ दी गईं और कुछ अप्रकाशित भी। हास्य-व्यंग्य से भरपूर तात्कालिक प्रतिक्रियावश लिखी गईं कविताएँ भी इसमें दी

गई हैं। इसमें 'राहुल जी के प्रति, निराला के प्रति, नेहरू चाचा', 'गोएटे के घर : फ्रांकफुर्त्त में' आदि कविताएँ शामिल हैं।

इसकी समीक्षा करते हुए *नवभारत टाइम्स* में जानेमाने कवि-समीक्षक प्रयाग शुक्ल ने लिखा था, "हिन्दी में संभवतः शमशेर बहादुर सिंह ही माचवे के ऐसे साथी लेखकों-कवियों में रहे हैं, जिन्होंने न केवल उनकी कविता को गंभीरता से लिया, बल्कि यह भी माना कि प्रभाकर माचवे बिलकुल अलग रंग-ढंग की कविताएँ लिखते रहे हैं। *जहाँ शब्द है* से माचवे जी की कविता के विविध रूपों की बानगी मिलती है और यह भी दिखाई पड़ता है कि व्यंग्य, विडंबना, चुहल, हास्य-विनोद से भरी हुई ये कविताएँ अगंभीर नहीं हैं। प्रायः उनकी शाब्दिक संरचना भी ढीली नहीं है। कई बार अगंभीर ढंग से वे कोई गंभीर या मर्मस्पर्शी बात कर रहे होते हैं। वे दैनिक चर्या से कवि-कर्म को अलग करके न देखते थे।"

प्रयागजी आगे लिखते हैं—"*मुक्तधारा* माचवे की कविताओं का अंतिम संग्रह है। इसमें उनकी कुछ प्रकाशित, कुछ अप्रकाशित और असंकलित कविताएँ दी गई हैं। इसकी कविताएँ माचवे की लगभग पाँच दशकों से अधिक की कविता यात्रा के अनुभवों और संवेदनाओं की विविधता से हमारा साक्षात्कार कराती हैं। यह कविता-संग्रह बताता है कि वे सब आंदोलनों से मुक्त और स्वतंत्र रहे। उनकी सहज, निश्छल, आत्माभिव्यक्ति इसमें मिलती है। *मुक्तधारा* की कविताओं के कई इंद्रधनुषी रंग हैं। 'अकाल' है तो 'जीवंत' भी है। 'सार्वत्रिक शोषण' के साथ 'छात्र दैनिकी' है तो 'कवि निराला की मृत्यु पर' और 'कवि भवानीप्रसाद मिश्र' पर श्रद्धांजलि स्वरूप कविताएँ भी हैं। 'मन का तिब्बत' और 'संप्रदायवादियों से बचने के लिए' भगवान महावीर से 'तुम ही दिखलाओ शांति राह' का निवेदन भी किया गया है। 'हृदय परिवर्तन' की आदिम आस्था के साथ कुछ हल्की-फुल्की रचनाएँ भी हैं।

"*तार सप्तक* के कवि माचवे की कविता ने छायावाद, स्वच्छंदतावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, अकविता और समकालीन कविता तक के सभी दौर देखे और इनमें से प्रायः सभी से उन्होंने अपना एक लेन-देन बनाए रखा। इस 'लेन-देन' की कविता की प्रयोगशाला में वे अपने को जाने-अनजाने जाँचते परखते रहे। यह भी कारण है कि उनकी कविता अलग रंग-ढंग की है। "गाँधीवादी, प्रगतिकामी, मानवतावादी माचवे की कविता इस लिहाज से भी पढ़ी जानी चाहिए कि उसमें स्वयं हिन्दी कविता के कई रूप-रंगों का स्वाद है। वह अपने साथ हिन्दी कविता की थाती लेकर चलनेवाली कविता भी है।" (प्रयाग शुक्ल, *अर्द्धविराम*)

माचवे के संबंध में कुछ आलोचकों ने लिखा है कि वे भाषा के साथ मनमानी करते हैं। कुछ ने लिखा कि 'देखता चला गया' के अंदाज़ में वे इंप्रेशन नोट करते जाते हैं, उनमें जटिलता या सघनता नहीं है। किन्तु इन सबसे सर्वथा अप्रभावित और

अविचल भाव से उन्होंने अंत तक कई नगरों पर लंवी कविताएँ लिखीं, जिनमें काशी, इलाहाबाद, कलकत्ता, विदिशा, उज्जैन, भोजपुर (*साक्षात्कार* में प्रकाशित), मांडू (*गगनांचल* में प्रकाशित), सांची (*आजकल* में प्रकाशित), नालंदा (*नईधारा*), काठमांडू, ढाका, पोर्टलुई (*ज्योत्स्ना*), अहमदाबाद, श्रावस्ती (*अतएव* में प्रकाशित) आदि रचनाएँ हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि उनमें सतही सैलानी सैरें नहीं है, अपितु मार्मिक स्मृतिबिम्बों से उत्कीर्ण शिल्पखंड है, जिनका केवल ऐतिक्य भूला नहीं है, बल्कि उनमें कलात्मक कालातीतता भी है। शिल्प की दृष्टि से उन्होंने अनेक छंदों में और बोलचाल की भाषा की निकटतम वाचिक परंपरा को लेकर कई बोलियों के बातचीत के टुकड़े और उद्धरण इन कविताओं में जड़ दिए हैं, किन्तु कहीं भी वे कृत्रिम या बोझिल (बौद्धिक व्यायाम) नहीं लगते।

कथाकार माचवे

माचवे ने उपन्यासों में भी नए-नए प्रयोग किए। हिन्दी में मनोविश्लेषणवादी लघु उपन्यासों के प्रथम प्रयोक्ता माचवे ही हैं। 1931 में प्रकाशित 'परंतु' उपन्यास अपने शीर्षक से तो ध्यान खींचता ही है, इसकी शैली भी मनोविश्लेषणवादी लघु उपन्यास की ही थी। 1943 में ही इसके कई अंश *नया साहित्य* में छपकर पाठकों को भा चुके थे। *परंतु* के बाद *द्वाभा* (1952) और *एक तारा* (1958) आए। *साँचा* मज़दूर जीवन पर आधारित उपन्यास है। माचवे ने एक श्रमिक नेता के रूप में श्रमिक जीवन को निकटता से देखा था, यह उपन्यास हमें बताता है। *साँचा* में उन्होंने मज़दूर और मज़दूर नेताओं के दुचित्तेपन और खोखलेपन को उजागर किया है। मज़दूर जीवन के मार्मिक चित्रण के साथ उसमें यांत्रिक युग की चुनौती भी है कि 'साँचे' में सब कुछ ढाला जा सकता है, पर मनुष्य को नहीं। मनुष्य हमेशा स्वतंत्र है और सर्वोपरि है। सामाजिक समस्याओं का जीवंत चित्रण इनमें हुआ है। उन्होंने 'भूमिका' में लिखा है, "हम सीधे-सीधे कहना चाहते हैं कि साँचे में आप मिट्टी के लोंदो को ढाल लीजिए, पर आत्मा का यांत्रिकीकरण संभव नहीं। सारे विश्व में साहित्य और कलाएँ इस कृत्रिम 'मैकेनाइजेशन' के ख़िलाफ़ विद्रोह कर रही हैं।"

इसके बाद प्रकाशित *द्वाभा* में परित्यक्ता नारी की पीड़ा मुखरित हुई है। अतीत की मिथ्या जकड़न और वर्तमान की अस्थिर मूल्यवत्ता तथा विखंडित मानसिकता के बीच नारी पिसती है, टूटती है। माचवे की साफ़ और संतुलित जीवनदृष्टि हर विसंगति पर कड़ा प्रहार करती है। वे मनु महाराज को भी कटघरे में खड़ा करने से नहीं हिचकते, क्योंकि उन्होंने भी नारी को शंका की दृष्टि से देखा, दूसरे दर्जे पर रखा और उसकी सारी स्वतंत्रता छीनकर कुछ ऐसे नियमों में जकड़ दिया कि वह वस्तु के अतिरिक्त कुछ और न बचे। उसकी अस्मिता को कुचलने का प्रयास किया, जिसका फल आज भी देश भुगत रहा है।

उनके प्रयोगधर्मी उपन्यास *द्वाभा* (1952) के बारे में जाने-माने उपन्यासकार विष्णु प्रभाकर लिखते हैं, " 'द्वाभा' उनका एक प्रयोगधर्मी उपन्यास है। नर-नारी के संबंधों की सही पहचान की तलाश है उन्हें। माचवे का कहना है कि 'मेरे मन में स्त्री तथा पुरुषों को अधिकाधिक सहशिक्षा ही नहीं, उन्हें परस्पर संपर्क में आने के अधिकाधिक अवसर कार्यक्षेत्र में ज्यों-ज्यों मिलेंगे—यौन प्रश्नों पर जो घनीभूत पर्दा

डाला गया है, वह हटकर, खुली हवा आएगी। कर्म तथा चिन्तन के क्षेत्रों में उसी मात्रा में मानसिक स्वास्थ्य आएगा।

यद्यपि इतना ही काफ़ी नहीं है, पर एक सीमा तक यह बात सही है और माचवे जी ने इस उपन्यास में इसी दृष्टि से स्त्री-पुरुषों के संबंधों को समझने और सुलझाने की चेष्टा की है। इससे भी आगे बढ़कर शंकरन के शब्दों में उन्होंने 'नारी को क्षणभर की प्रेयसी परंतु अनंतकाल की माता' मानकर समस्या का समाधान तलाश करने की जो राह दिखाई है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है।" (एक प्रतिभापुंज थे प्रभाकर माचवे : विष्णु प्रभाकर, *दिनमान टाइम्स*)

नारी के बारे में उनकी यह क्रांतिकारी सोच आज से पचास साल पहले की है, जब हिन्दी में इतना क्रांतिकारी नारी लेखन नहीं होता था। तब से वे नारी के पक्ष में आवाज़ उठा रहे थे।

आठवें उपन्यास *किसलिए* में माचवे ने पाठकों से कहा है, "मन उद्वेलित अवश्य है। दिन-ब-दिन पुराने आदर्शों पर श्रद्धा धुँधली होती जाती है।" "जैसे-जैसे समय बदलता जा रहा था—आदर्शों पर से विश्वास उठता जाता है।" "कई बाधाएँ आती हैं आदर्श में। सबसे पहले बाधा तो वह स्वयं होता है। चलते हैं हम आगे, किन्तु कुछ संस्कार हैं, जो हमें पीछे खींचते हैं, परंतु कहीं आकर रुक जाता है आदमी। यह सारे सोलह उपन्यास जो मैंने लिखे हैं, उनका विषय सतत् यही रहा है।"—विक्रमकुमार को दिए साक्षात्कार—(*ऋतुचक्र*/मार्च-जून 1989) में माचवे अपनी रचनात्मक प्रक्रिया के बारे में बताते हुए कहते हैं, "मेरा यह मत है— *जो* नामक मेरे उपन्यास में मैंने उपमा दी है कि एक भारी—बड़ी भारी नदी बह रही है, उसके अंदर लट्ठे काट-काटकर—जंगल के जो पेड़ होते हैं, उनको फेंक दिया जाता है। अब कई जगह जाकर लट्ठे एक-दूसरे से जुड़ जाते हैं और वह आगे बह-बढ़ नहीं पाते। संस्कार मनुष्य के मन में इस तरह से जड़ीभूत है कि उनसे वह उबरना चाहता है, लेकिन यह जो अपने आपसे लड़ाई चलती रहती है, यह पहली बाधा—आदर्श के पूर्ण निर्वाह में पहली बाधा तो अपने संस्कार हैं। दूसरी जो बाधा है—उसकी परिस्थितियाँ हैं। हम चाहते हैं बहुत आदर्श पालन करें, लेकिन मौक़ा ही नहीं मिलता। कई लोगों को मौक़ा मिलता भी है, फिर भी वे छोटी-छोटी लोभ-मोह आसक्तियों में पड़ जाते हैं, 'स्लिप' कर जाते हैं—जिसको कहते हैं—'परमिसिव' सोसाइटी। तो आदर्श के रास्ते में कई संकट आते रहते हैं। मैं समझता हूँ तीन संकट सबसे बड़े हैं एक पक्के आदर्शवादी के रास्ते में—एक का नाम है सत्ता, दूसरे का संपत्ति और तीसरे का नाम है संस्था।" तुलसीदास ने इसको बहुत ही अच्छे एक दोहे में लिखा है कि :

कंचन तजनो सहज है, सहज कामिनी देह
मान, बड़ाई, ईर्ष्या, तुलसी दुर्लभ येह।

इसका मतलब यह है कि, "मनुष्य की वित्तैषणा, उसकी कामैषणा और यशैषणा—ये एषणाएँ जो है, उसकी सबसे बड़ी बाधाएँ हैं। तो मैं नहीं मानता कि मैं इतना बड़ा आदर्शवादी हो गया हूँ कि इन सबको उत्तीर्ण कर गया हूँ।"

माचवे ने अपने व्यक्तित्व के बारे में सटीक कहा है, वे अंत तक वित्तैषणा और यशैषणा से उबर नहीं पाए। आख़िर वे कोई साधु-संत तो थे नहीं। साधारण मनुष्य थे।

इसी उपन्यास में वे 'पाठकों से' कहते हैं, "मन की आँख तो और भी सूक्ष्म और परिस्थिति और देशकाल के अनुसार बदलनेवाली होती है।" इसकी व्याख्या करते हुए वे बताते हैं, "हम आँख से कोई भी चीज़ देखते हैं, उस पर देश-काल-परिस्थिति—सब चीज़ों का तो प्रभाव पड़ता ही है हर समय। यह सारा जो कुछ है, वह सापेक्षता और अनेकांत का खेल है, ऐसा मुझे लगता है।"

इसी उपन्यास में पृष्ठ 10 पर एक पात्र कहता है, "उन्हें 'हिन्दीवालों' से बड़ी नफ़रत है। बड़े दकियानूसी और कूढ़मग्ज लोग हैं जनाब।"

1975 में हिन्दी के बारे में यह कठोर टिप्पणी एक अहिन्दीभाषी लेखक ही कर सकता था। उनकी हिन्दी से जो अपेक्षाएँ थीं, वे पूरी नहीं हुई। हिन्दी प्रांतों में साक्षरता की कमी से वे चिन्तित रहते थे। अन्य प्रांतों की तुलना में, केरल, बंगाल की तुलना में वे पाते हैं कि हिन्दी प्रदेशों में लेखक की बड़ी उपेक्षा है। कितने-कितने लेखक हैं, जिनके मरणोपरांत उनका झंडा बनाया गया, जैसे मुक्तिबोध का। 'दकियानूसी' और 'कूढ़मग्ज' उस भाव से लिखा है।

तीस-चालीस-पचास का शीर्षक भी अनूठा है। इसमें दो पीढ़ियों का संघर्ष और मानवीय मूल्यों की समस्या का ऊहापोह है। ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित *जो* (1965) हिन्दी का एकमात्र उपन्यास है, जिसमें वर्णद्वेष के कारण अमेरिका में नीग्रो सत्याग्रहियों ने जो आंदोलन किया था, उसका आँखों देखा वर्णन और उसके परिप्रेक्ष्य में भारत के जाति भेद पर करारी चोट है। 1969 में *किशोर* उपन्यास प्रकाशित हुआ।

दशभुजा में आर्थिक स्वावलंबन तलाशती हुई नारी की समस्याओं का चित्रण है। *लापता, कहाँ से कहाँ, किसलिए* आदि उपन्यासों में दार्शनिक प्रश्नों की प्रत्यक्ष जीवन के दृष्टिकोण के साथ टकराहट है और उससे उत्पन्न विविध पात्रों, प्रसंगों और विचारों का विश्लेषण है, जो मनोरंजक और पठनीय है। *दर्द के पैबंद* (1974) *द्यूत* (1976) और *लक्ष्मीबेन* (1976) में समाज का दर्द व्यक्त हुआ है।

माचवे ने कुल सोलह उपन्यास लिखे, जो हिन्दी के आम उपन्यासों से अलग हटकर है। कुछ को ये अतिबौद्धिक लगते हैं तो कुछ को प्रचारवादी दृष्टियुक्त अस्तित्ववादी और अस्पष्ट जान पड़ते हैं। पश्चिम के विचारप्रधान उपन्यासों की

शृंखला में माचवे के उपन्यासों को रखा जा सकता है। माचवे लोकप्रियता की आकांक्षा से दूर कथा और उपन्यास में भी विचारोत्तेजक लेखन ही बराबर करते रहे।

अपने उपन्यासों की सीमा भी माचवे पहचानते थे, तभी *साँचा* की भूमिका में लिखते हैं, "मैं जानता हूँ आपको यह पसंद न आएगी। इसमें जासूसी उपन्यासों जैसा घटनाक्रम नहीं; कोई दुर्धर्ष उन्मत्त क्रांतिकारी अपमानव चरित्र नहीं; मनोविश्लेषण के नाम पर सेक्स की चाशनी का अनुपान नहीं और न प्रगतिवादी यथार्थवाद का बीभत्स, 'मार्बिड' कटे हुए मांस के लोथड़े-छीछड़े और बहते ख़ून और पीब का पैशाचिक वर्णन —फिर भी यह जैसे लिखा गया, आपके सामने है। मैं इसके लिखने के बारे में 'अपोलोजी' नहीं देना चाहता। मैं हर लिखने के साथ-साथ आगे लिखने का अभ्यास करता हूँ।"

अपने इस उपन्यास की 'समीक्षा' भी माचवे ने भूमिका में ख़ुद ही लिख दी है:

1. "अंतिम अध्याय का कुछ अंश दुर्बोध है। 'ज्वायस' का जान-बूझकर अनुकरण नहीं, लेखक उस मुहावरे में ही यहाँ बात करना चाहता है। उसे हिन्दी के विवेकशील पाठक पर भरोसा है।"
2. "उपन्यास में सुनिश्चित कथानक, सुव्यवस्थित पात्रनिर्माण, प्लान, तखमीना आदि पाठकों को नहीं मिलेगा—यह इसलिए नहीं हुआ है कि आधुनिकता के नाम पर जान-बूझकर असम-विषम चीज उपस्थित की जाए। पर लेखक को लगता है कि जो विषय उसने उठाया है, वह विश्व की वैचारिक समस्या है—'मेकेनाईजेशन ऑफ द सोल'—उसकी अभिव्यंजना और किसी तरह हो ही नहीं सकती थी।"
3. "भाषा के बारे में निवेदन है कि स्थानीय रंग, मालवी के शब्द यत्र-तत्र आ गए हैं। वैसे भारत महान देश है—कई प्रादेशिक भाषाएँ और बोलियाँ हैं। भावी हिन्दी को हम साँचेबद्ध रूप में ही क्यों देखें?"

उपर्युक्त भूमिका में समीक्षकों के लिए लेखक ने ही रास्ता आसान कर दिया है। वह बग़ैर उपन्यास पढ़े ही इस भूमिका के आधार पर उपन्यास की समीक्षा कर सकता है। कोई पूछ सकता है कि सुनिश्चित कथानक, सुव्यवस्थित पात्रनिर्माण, प्लान आदि से 'विश्व की वैचारिक समस्या' का चित्रण क्या नहीं हो सकता था? लेखक बार-बार अपनी असमर्थता का उद्घोष क्यों करता चलता है कि, "*साँचा* नाम की टूटी-फूटी जैसी भी बन पड़ी है कहानी में"—क्या वह अपने को, अपनी रचनात्मकता को 'साँचे' में ढालकर अभिव्यक्त नहीं कर सकता? उसे उपन्यास नाम का 'साँचा' ही तोड़ डालने की क्या जरूरत थी?

अंतिम अध्याय में लेखक ने सूक्तियों की भरमार कर दी है। *अथर्ववेद* के श्लोक और अन्य कई कविताओं के बोझ के मारे अंत में उपन्यास डूब जाता है। 1978 में *कहाँ से कहाँ* और 1983 में *आँखें मेरी, बाक़ी उनका* उपन्यास प्रकाशित हुआ।

लिखने का अभ्यास करते-करते माचवे 16 उपन्यास लिखते चले गए, पर उन्हें कोई उपन्यासकार के रूप में याद नहीं करता। उनके उपन्यास केवल प्रयोग के लिए लिखे गए। यों तो हिन्दी में किस उपन्यासकार ने उपन्यासविधा को पूरी तरह साध लिया है? फिर भी माचवे के उपन्यास हिन्दी उपन्यास की कीर्ति में कोई उल्लेखनीय श्रीवृद्धि नहीं करते।

प्रभाकर माचवे अपने को उपन्यासकारों में 'एक्स्ट्रा' मानते थे। भारतीय ज्ञानपीठ ने जब *ज्ञानोदय* में ग्यारह लेखकों से एक ही उपन्यास 'ग्यारह सपनों का देश' उपन्यास लिखाया तो जब एक लेखक ने उपन्यास की किश्त नहीं लिखी तो माचवे को पकड़ा गया, "आग्रह है कि चूँकि *ग्यारह सपनों का देश* वाली टीम में एक 'एक्स्ट्रा'–शायद एक प्रस्तावित व्यक्ति ने एक अध्याय नहीं लिखा, अतः मुझे ऐनवक़्त पर पकड़ा गया, हिन्दी के एक क्षिप्र (क्षिप्रातट पर बारह बरस भाड़ झोंक़ने से इसका संबंध नहीं है) परंतु शीघ्र-फलदाता लेखक के नाते पत्र मिला और सब पूर्व अध्याय (सात या आठ) मैं पढ़ गया, जल्दी-जल्दी में मैंने एक अध्याय लिख भी दिया।" वे जल्दी-जल्दी में कुछ भी लिख सकते थे, वह चाहे उपन्यास हो या खंडकाव्य; इस उपन्यास से भी माचवे संतुष्ट नहीं हुए, "मैं अपने अंश से संतुष्ट नहीं हूँ। उपन्यास की असफलता में मैं भी सहभागी हूँ।" उन्होंने अपने अन्य सहयोगी उपन्यासकारों की हालाँकि तारीफ़ भी की है, "मेरी दृष्टि से सबसे कलात्मक अंश कृष्णा सोबती का लिखा हुआ है–उनकी तूली सौम्य और सूक्ष्म है, उनके वर्णन हल्के और सधे हुए। जापानी चित्रों का-सा मार्दव उनके यहाँ है।"

उसके बाद धर्मवीर भारती ने अपना कार्य पूरा किया है, "उनके आरंभिक अंश के कुछ स्थल और अंतिम अंश में पत्रादि अपने आप में स्वयंपूर्ण, सुंदर साहित्यिक कृतियाँ हैं। अमृतलाल नागर का अंश भी जमा हुआ था।"

ग्यारह सपनों का देश उपन्यास धर्मवीर भारती, उदयशंकर भट्ट, रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, इलाचंद्र जोशी, राजेन्द्र यादव, मुद्राराक्षस, लक्ष्मीचंद्र जैन, प्रभाकर माचवे और कृष्णा सोबती ने मिलकर लिखा था और इनमें से केवल छह ने ही ऐसे संयुक्त उपन्यास की सृजन की समस्याओं पर लिखा था।

माचवे अपने को 'असफल' (इस उपन्यास-अंश में) मानते हैं, लेकिन उपन्यासकार मुद्राराक्षस इसे 'सफल' मानते हैं, "उसके चरित्र की अदम्यता और उसका अनिवार्य समर्पणप्रिय भावुक मन ये दोनों ऐसे थे, जिसके साथ न्याय या तो पाववाला की भेंट

कर सकती थी या फिर माचवे का पहला-पहला वाक्य—'और मीनल गर्भवती हो गई।' दरअसल यही स्वयं एक पूरा-का-पूरा अध्याय था।"

"माचवे का प्रयोग इतने वाक्य पर ही पूरा हो जाता है। मैं इसे सफल अध्याय मानता हूँ।" रांगेय राघव ने लिखा, "माचवे ने ग़ज़ब कर दिया। *बारहखंभा* (अज्ञेय की अधूरी योजना) में माचवे ने अल्ताफ़ से ऐसा ही कुछ काम करा दिया था, जिसका फल देखा उन्होंने *ग्यारह सपनों का देश* में। एक ही 'क्रिया' का फल भी उन्होंने कितने दिन बाद देखा, सो मीनल गर्भवती हो गई। अब मुद्राराक्षस जी कहते हैं कि यह वाक्य पढ़ते ही उन्हें लगा कि सफलता मिल गई।"

1984 में प्रकाशित *लापता* के बाद *अनदेखी* उपन्यास भी आया है।

"क्या यह सब कुछ रहेगा? या यही सब कुछ रहेगा? मेरा अड़ोस-पड़ोस, रिश्तेदार, मित्र-शत्रु, वस्तुएँ, आशाएँ अपेक्षाएँ औरों की। प्रकृति और जड़-चेतन परिवेश सब ज्यों-का-त्यों रहेगा। नहीं रहूँगा, सिर्फ़ उन्हें अनुभव करनेवाला मैं। क्या इससे कोई बड़ा फ़र्क़ पड़नेवाला है? समुद्र में एक बूँद रही क्या, न रही क्या? सम्मुख शांत पारावार..." यह उद्धरण माचवे के अंतिम उपन्यास *आँखें मेरी, बाक़ी उनका* से लिया गया है। यह उपन्यास विभूति प्रकाशन से 1984 में प्रकाशित हुआ था, तब उनके विचारों में गुणात्मक परिवर्तन आ रहा था। जीवन के प्रति उनका मोह शायद छूटता जा रहा था। उनका मन भौतिक जगत में उतना नहीं रमता था। और वे आध्यात्मिक जगत में भटकने लगे थे। अपने जीवन के उद्देश्य को व्यापकतर संदर्भों से जोड़कर विश्लेषित करने लगे थे। जीवन के भौतिक जगत से मोह छूटने के कई पारिवारिक, आर्थिक, सामाजिक कारण थे। वे सबसे अकेले पड़ गए थे।

इसी उपन्यास की भूमिका में माचवे ने लिखा था, "अब मेरा मन धीरे-धीरे इस विधा से भी ऊब रहा है। कविता लिखना मैंने कभी का बंद कर दिया, कहानी भी यदा-कदा ही लिखता हूँ। रेडियो की नौकरी छूटी और एकांकी या रेडियो नाटक लिखना छूटा। अब उपन्यास भी हाथ से फिसलता जा रहा है। बात यह है कि क्या जीवन में और क्या साहित्य में, किसी भी व्यक्ति या विधा से अत्यधिक मोह ठीक नहीं।" वे अगर किसी एक विधा के मोह में पड़ते तो आज महान् उपन्यासकार या महाकवि होते, पर वे किसी के मोह में नहीं पड़े।

डॉ. माचवे के इसी उपन्यास का नायक कहता है, "क्या हम जमराज को कुछ आगे टल जाने के लिए नहीं कह सकते? हम कुछ रिश्वत-विश्वत दे नहीं सकते, आज ही कौन-सा मुहूर्त्त है जो टला जाता है? तो क्या करें...वह तो सब कुछ ऊपर लिखनेवाला नहीं मानता! तो कैसे खिड़की के उस पार क्या है? यह जाना जाए? क्या सब कुछ जाना भी जा सकता है? अगर जान जाते तो फिर जम को जमने का मौक़ा नहीं मिलता। आख़िरी साँस के बाद क्या है? स्वर्ग या नरक? या दोनों ही नहीं?

पुनरपि जननी जठरे? शपनम्? पुनर्जन्म? शायद वह भी इसी योनि में न हो? कल्पना करने के लिए कितनी-कितनी बातें हैं...।" वे पलभर में संवादहीनता की दीवार को ढहाकर—जीवंत-संवाद के लिए ठोस जमीन तैयार करते थे।

21 नवंबर, 1983 को 'काली-कोता' (ही) से अपने पंद्रहवें उपन्यास *लापता* के बारे में मुझे लिखा, " *लापता* मेरा 15वाँ लघु उपन्यास है। इसमें एक आदमी घर से भाग जाता है। वेश और नाम बदलकर जहाँ-जहाँ जाता है, कोई पहचाननेवाला मिल ही जाता है। बेचारा केरल से, गोवा से, अमेरिका से, बंगाल और शिमला और कहाँ-कहाँ नहीं भटकता। आख़िर में वह पकड़ा ही जाता है। अपने ही बुने हुए जाल में—ख़ुद फँस जाता है। सारा उपन्यास एक एलिगरी शोकांतिक है। आज का आदमी अपनी आत्मा खो चुका है। वह दर-दर भटक रहा है—उस आत्मा को पाने। पर बहुत देर से उसकी समझ में यह आता है कि कस्तूरीमृग की नाभि में ही वह 'पहचान' उसकी है। जब तक वह पहचानने की स्थिति में पहुँचता है—उसका कोई उपयोग नहीं रह पाता। वैसे इसमें स्मगलर भी आते हैं, अपराधी भी आते हैं, कई प्रांत की स्त्रियाँ भी हैं—*महाभारत* के अंश भी हैं—समुद्र पर अनेक सूक्तियों का संग्रह है—शायद रोचक बन पड़े।" आगे ख़ुद ही लिखते हैं, "मैं अपने लेखन को 'रोचक' बनाने के मोह से बचता रहता हूँ। पर दुर्भाग्य यह है कि यह बचाव ही उसे रोचक बना देता है।"

कथ्य की नवीनता और ताज़गी माचवे की कहानियों में भी दिखाई पड़ती है। उनकी कहानियों में विविधता मौजूद है। अधिकतर कहानियाँ शोषितों और पीड़ितों पर हैं। मज़दूरों पर उन्होंने उपन्यास के अलावा कहानियाँ भी लिखी हैं। कोई भी विसंगति उनकी पारखी नज़रों से बच नहीं पातीं और तब वे मनोविश्लेषण के औज़ार का इस्तेमाल करते हैं। उनके यहाँ सामाजिक मनोविश्लेषण पर्याप्त हुआ है। उनका कहानी-संग्रह *संगीनों का साया* पर्याप्त रूप से चर्चित हुआ, जो 1943 में ही छप गया था।

विविध विधाओं में लेखन

एकांकी

माचवे ने एकांकी भी काफ़ी लिखे और लिखवाए। जाने-माने हिन्दी उपन्यासकार विष्णु प्रभाकर को नाटककार और एकांकीकार प्रभाकर माचवे ने ही बनाया। माचवे ने रेडियो के लिए उनसे एकांकी लिखने को कहा था—यह बात स्वयं विष्णु प्रभाकर ने अपने नाटक-संग्रह की भूमिका में लिखी है, "विष्णु जी! आपकी कहानियों में वार्तालाप बहुत सुंदर होते हैं—आप क्यों नहीं लिखते एकांकी?"

रेडियो की अपनी नौकरी के दौरान माचवे ने अनेक एकांकी लिखे। उनके साठ से अधिक एकांकी हैं। *गली के मोड़ पर* उनका एकांकी-संग्रह है, जिसमें बेजान वस्तुओं को पात्र बनाया गया है। 'लेटरबॉक्स', 'लैम्पपोस्ट' और 'दीवार' जिस पर पोस्टर चिपकाए जाते हैं, वे आपस में बातचीत करते हैं और मनुष्यों के व्यवहार पर टीका-टिप्पणी करते हैं। एक में पंचकथाओं के पौराणिक संदर्भ को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में देखा गया है। कुछ प्रहसन भी है जहाँ व्यंग्य और चित्र भरे हुए हैं। कथ्य की नवीनता और ताज़गी इन एकांकियों में दिखाई पड़ती है। प्रथम प्रयोगवादी एकांकी माचवे के ही हैं।

गली के मोड़ पर एकांकी-संग्रह में सात एकांकी हैं, जिनमें 'वधू चाहिए', 'अभियोग', 'अब्रा का डब्रा', 'अधकचरे', 'पागलखाने में' और 'राम आज की दुनिया में' एकांकी शामिल हैं। तात्कालिक माँग पर लिखे गए इन एकांकियों में कालजयी रचना के तत्त्व भी हैं।

माचवे ने जब एकांकी लिखना शुरू किया था, तब हिन्दी के साहित्यकार एकांकी विधा को गंभीरता से नहीं ले रहे थे। डॉ. रामकुमार वर्मा और भुवनेश्वर जैसे कुछ सर्जकों को छोड़कर और कोई भी एकांकी नहीं लिख रहा था। इसकी सार्थकता को लेकर चंद्रगुप्त विद्यालंकार और उपेन्द्रनाथ अश्क बहस कर रहे थे। तभी प्रेमचंद ने *हंस* का एकांकी विशेषांक प्रकाशित किया।

व्यंग्य

1950 में *ख़रगोश के सींग* व्यंग्य-संग्रह आया। वैसे तो हास-परिहास, शब्दक्रीड़ा और व्यंग्य तो उनकी कविता में भी हावी रहे। समूचे लेखन में, निबंध में तो विशेषकर हास-परिहास, शरारत, छेड़छाड़, व्यंग्य की दुलत्ती मिल ही जाती है। उनके व्यंग्य की एक अलग विशेषता यह है कि वे भी निस्संग रहते हैं, बेपरवाह रहते हैं, इसलिए व्यंग्य के असर की चिन्ता से मुक्त रहते हैं, किन्तु उनके व्यंग्य बाण कई पर्तों को चीरकर पार हो जाते हैं। उससे मुग्ध हुए बिना या चोट खाए बिना, बच पाना मुश्किल है। उनके व्यंग्य का लक्ष्य कभी-कभार ही कोई व्यक्ति विशेष होता है, अक्सर वे प्रवृत्ति पर चोट करते हैं। हास-परिहास और शब्दक्रीड़ा से भरपूर आनंद के साथ व्यंग्य समाज को जगानेवाला होता है। माचवे को इस कला में सिद्धि हासिल है। इस प्रकार की *ख़रगोश के सींग, बेरंग, विसंगति* आदि कई पुस्तकें हैं। *ख़रगोश के सींग* की भूमिका डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखी थी और बहुत सराहा था। 1956 में *बेरंग* छपा था और 1984 में *विसंगति* छपी थी, जिसकी प्रशंसा में अज्ञेय ने लिखा था कि इसमें माचवे का शब्दक्रीड़ा करने का गुण अधिक मुखर हुआ है। उन्होंने इसकी भाषा-शैली की भी तारीफ़ की थी।

उनके अंतिम दिनों में एक कहानी छपी थी—'शांति की तलाश में'। यह शीर्षक उनके बारे में बहुत कुछ कह देता है—वे अंत तक 'शांति की तलाश में' रहे।

'विसंगति' में समाज की अनेक विसंगतियों का चित्रण मुखर रूप से किया गया है, जिसमें 'घुटना टेक निर्वाण' से लेकर 'वानप्रस्थ' तक न जाने कितनी विसंगतियाँ प्रकट हुई हैं, किन्तु उसका ह्यूमर इतना ज़बरदस्त है और शब्दक्रीड़ा का फैलाव इतना अधिक है (जो किसी मँजे हुए शब्द के खिलाड़ी, जो कई भाषाओं का जानकार हो, के लिए ही संभव है) कि कोई गुरु-गंभीरता नहीं बच पाती, सारा आतंक साफ़ हो जाता है। *तेल की पकौड़ियाँ* भी हिन्दी व्यंग्य की अनूठी पुस्तक है। 'सादुल्ला' नाम से उन्होंने कई व्यंग्य लिखे।

उनके लेखन में एक प्रकार का खुरदरापन मिलता है। उनका लेखन एक ही विधा में देर तक नहीं रुक पाता है। इसका कारण आशु-लेखन और बहुत तीव्र गति से चलनेवाला सतत् रचनात्मक अंतःप्रवाह है, जिसे सँभालना अपने आपमें एक कठिन कार्य है। ऊपर से देखने पर ही खुरदरापन मिलता है, किन्तु भीतर गहरी रचनात्मक अंर्तधारा सतत् प्रवाहित रहती है। उनकी अभिव्यक्ति सतत् चलती रहती है और इसमें इतनी तीव्रता होती है कि एक विधा पर उनके लिए रुके रहना संभव नहीं है। कीमियागिरी पर ही सारा ध्यान केन्द्रित करके लगे रहना धीरज माँगता है, जो उनमें कम था, फिर समस्या संप्रेषण की भी थी। फिर आख़िर लिखते किसके लिए हैं?

जिसके लिए लिखते हैं, उसे संप्रेषित लिए संप्रेषण भी होना चाहिए। उन्हें संप्रेषण से सीधा लगाव था। वे सीधे संवाद के क़ायल थे। उनके पास अनुभव, तथ्य और सूचनाओं की इतनी अधिकता थी कि अक्सर आपाधापी मच जाती थी। अक्सर रचना में इतिहास, भूगोल, वर्तमान की तथ्यपरक सूचनाएँ ही हावी हो जाती थीं, रचना के पास अवकाश कम बचता था। हर विधा में वे निरंतर प्रयोग करते रहते थे। प्रयोग उनके साथ आरंभ से जुड़ा रहा।

यात्रा-वृत्तांत

माचवे जी ने लगभग सत्ताईस देशों की यात्राएँ कीं। अमेरिका के दो विश्वविद्यालयों में अध्यापन किया। सोवियत भूमि पुरस्कार के अंतर्गत सोवियत संघ की यात्रा की। जापान, हालैण्ड, हांगकांग, थाईलैण्ड, इस्राइल, चीन, मारीशस, बाङ्लादेश, जर्मनी सभी देशों की यात्रा के वृत्तांत समाचारपत्रों में तो लिखे ही। *गोरी नज़रों में हम* 1964 में प्रकाशित हुआ और 1976 में हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी ने *रूस में* यात्रा-वृत्तांत छापा।

उन्होंने जितनी कविताएँ विभिन्न प्रदेशों की यात्राओं और विदेशी पर्यटनस्थलों पर लिखी हैं, उतनी हमारे जाने हिन्दी के किसी कवि ने नहीं लिखी हैं। उन्होंने असम, केरल, महाराष्ट्र राज्यों पर स्वतंत्र पुस्तकें भी लिखीं और *आदिवासी बच्चे* जैसी नृतत्त्वशास्त्र की महत्त्वपूर्ण पुस्तक भी।

छत्रपति शिवाजी पर हिन्दी में और बाबू जगजीवन राम पर मराठी में जीवनियाँ भी लिखीं। *गाँधी के आश्रम में* संस्मरणात्मक पुस्तक है। *विभिन्न धर्मों में ईश्वर कल्पना* दर्शन की पुस्तक है। *हिन्दी और मराठी निर्गुण संत काव्य* पर उनका शोधप्रबंध भी प्रकाशित है। *शब्दरेखा* में रेखाचित्र के साथ लेखकों के शब्दचित्र भी हैं।

संपादन

संपादित पुस्तकों में *जैनेन्द्र के विचार* के साथ *गाँधी शतदल, शतदल* कविता-संग्रह है। *भारतीय संस्कृति कोश* दो खंडों में है। *भारतीय उपन्यास कथासार* दो खंडों में है। *आदर्श पद्य-संग्रह* है तो *आदर्श गद्य रचना* भी है। राजस्थान शिक्षा मंत्रालय के लिए शिक्षकों की रचनाओं का संकलन *रेती के रात दिन* भी संपादित किया। अपनी आत्मकथा उन्होंने अंग्रेज़ी में लिखी, *फ़्राम सेल्फ़ टू सेल्फ़*। अंग्रेज़ी में भी उनकी किताबों की संख्या 15 है और मराठी में लगभग एक दर्जन है। प्रकाशन विभाग के लिए *नमक आंदोलन* पुस्तिका लिखी। गाँधीजी पर *सौ सवाल एक जवाब* पुस्तक भी तैयार की।

संस्मरण

उनके पास संस्मरणों का अकूत भंडार था। अज्ञेय की मृत्यु पर उन्होंने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कोई पच्चीस लेख केवल संस्मरणों के आधार पर लिखे थे। नेहरू जन्म शताब्दी पर भी ऐसे ही अनेक लेख लिखे थे। मुक्तिबोध के देहांत पर उन्होंने श्रद्धांजलियों की झड़ी लगा दी थी। पं. नेहरू से लेकर डॉ. राधाकृष्णन, निराला, पंत, महादेवी से लेकर धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय तक, बेन्द्रे, एम.एफ़. हुसैन से लेकर नए-से-नए कलाकार तक उनके पास ढेरों संस्मरण थे और उनको सुनाने की ख़ास शैली थी।

उनकी इसी अकूत क्षमता पर—डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर ने लिखा है :

"प्रकृति ने ही माचवे जी को मेधा, चिन्तन-क्षमता, वाक्पटुता का जो अवदान दिया है, वह बहुत कम लोगों को प्राप्त है। डॉ. माचवे बैठे-बैठे आसपास के लोगों के अच्छे रेखाचित्र खींच सकते हैं, एकाध घंटे में रेडियो के लिए व्याख्यान लिख सकते हैं, ऐन समय पर साहित्य के किसी भी विषय पर एकाध घंटे का विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान दे सकते हैं। हवाई जहाज़ की यात्रा में आते-जाते समय एकाध उपन्यास का अध्याय लिख सकते हैं।"

उन्होंने कविता, कहानी, व्यंग्य, यात्रा-संस्मरण लिखे। वे ज़बरदस्त लिक्खाड़ थे। बावजूद इसके उनका लेखन संघर्ष से पैदा हुआ था। उन्होंने कहीं कहा भी है कि संघर्ष के बिना लेखन में वास्तविकता आ नहीं सकती।

बाल-लेखन

उन्होंने बच्चों के लिए भी विपुल साहित्यसृजन किया। *पराग, बालभारती, नंदन* तथा *धर्मयुग* के बालपृष्ठ पर उनकी कविताएँ अक्सर छपती थीं। उनकी बाल-कविताओं में भी भारतीय भाषाओं और भारतीय संस्कृति की अनूठी छटा मिलती है। उन्होंने बच्चों के लिए पुस्तकें लिखी थीं। भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ ने उनकी बाल पुस्तक *पाँच उँगलियाँ, मुट्ठी एक* भी छापी थी। *बालभारती* में उनकी एक कविता छपी थी, जिसमें उन्होंने इस देश के प्रमुख व्यंजनों को याद किया था। डॉ. प्रकाश मनु के शब्दों में उन्होंने बच्चों के लिए नई शैली नए अंदाज़ की कुछ ऐसी कविताएं लिखीं, जिनकी कल्पनाशीलता मुग्ध कर देती है। प्रभाकर माचवे की ऐसी ही एक कविता हाथी का मज़ेदार चित्र उपस्थित करती है :

हाथी / हाथी हाथी / ऐसे मस्त चल रहे जैसे डिक्टेटर के हाथी / कई सूंड़ के लाभ / सींच सकेंगे पूरा बाग़ / चमेली जूही-गुलाब।

लघु पत्रिकाएँ

अनेकानेक लघु पत्रिकाओं के लिए भी उन्होंने विपुल लेखन किया। कई लघु पत्रिकाओं के प्रवेशांक में ही उनकी रचनाएँ छपी हैं। जगदीश चतुर्वेदी आदि तब के युवा कवि जब उनके पास *अकविता* निकालने की योजना लेकर गए तो माचवे ने उन्हें भरपूर प्रोत्साहन दिया। उन्होंने उनकी पत्रिका के लिए रचनाएँ तो दीं ही, चंदा भी दिया। उन जैसा वरिष्ठ साहित्यकार कवि, तब के तरुणों पर ऐसा भरोसा करता था। कई लघु पत्रिकाओं के आवरण चित्र उन्होंने बनाए हैं। कई लघु पत्रिकाओं के लिए पोस्टकार्ड पर कविताएँ और अंतर्देशीय पर लेख भेजे हैं। कई पत्रिकाएँ तो प्रवेशांक के बाद ही बंद हो गई, फिर भी उन्होंने उत्साह से भरकर उनके लिए लिखा। इंदौर से प्रकाशित *ऋतुचक्र* के लिए वे बरावर लिखते थे। रतलाम से प्रकाशित *आवेग* में, जयपुर की *मधुमाधवी* में तथा इलाहाबाद के *अंतर्राष्ट्रीय श्रोता समाचार* में लिखने से भी वे परहेज़ नहीं करते थे। डॉ. सत्यभूषण वर्मा ने जब *हाइकू* अंतर्देशीय पत्र निकाला तो उसमें भी माचवे हाज़िर थे। *विपाशा, मधुमती, साक्षात्कार, महाराष्ट्र मानस, शीराजा, युगसाक्षी, अक्षरा, ज़मीन, वीणा* में तो वे लिखते ही थे। वे मानते थे कि साहित्यिक लघु पत्रिकाओं का साहित्य के इतिहास में वड़ा महत्त्वपूर्ण 'रोल' रहा है।

आलोचक माचवे

माचवे में एक अच्छे आलोचक की समझ और संस्कार आरंभ से था। 1935 में निराला जी ने *सुधा* में उनका पहला आलोचनात्मक लेख 'नव्य-कला में मनोविज्ञान' प्रकाशित किया था। उसी वर्ष इंदौर में मराठी साहित्य सम्मेलन के साहित्य विभाग ने 'साहित्यातीत ललित कला भाव' नाम से एक लेख प्रकाशित किया था। इस पच्चीस पृष्ठ के लेख की बहुत प्रशंसा हुई थी। 'गोर्की और प्रेमचंद का तुलनात्मक अध्ययन' *कर्मवीर* और *गणेश* में प्रकाशित हुआ था। समालोचनात्मक लेखन में इतने निपुण हो गए थे कि 1937 में कथाकार जैनेन्द्र पर पहली पुस्तक *जैनेन्द्र के विचार* संपादित-प्रकाशित की। इसकी विस्तृत भूमिका की काफ़ी चर्चा-प्रशंसा हुई। बाद में तो *नाट्य चर्चा*, *हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ*, *हिन्दी पद्य की प्रवृत्तियाँ*, *हिन्दी निबंध*, *व्यक्ति और वाङ्मय*, *समीक्षा की समीक्षा*, *मराठी और उसका साहित्य*, *हिन्दी साहित्य की कहानी*, *संतुलन*, *भारत और एशिया का साहित्य*, *हिन्दी ही क्यों तथा अन्य निबंध*, *मराठी साहित्य का इतिहास*, *हिन्दी आलोचना : अतीत और वर्तमान* आदि कई समालोचनात्मक पुस्तकें आईं। कुछ परिचयात्मक आलोचनात्मक पुस्तकें भी लिखीं—*कबीर*, *केशवसुत*, *राहुल सांकृत्यायन*, *अज्ञेय*, *मैथिलीशरण गुप्त*, *वृंदावनलाल वर्मा*, *बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'*, *रांगेय राघव*, *माखनलाल चतुर्वेदी* आदि पर।

इनके अतिरिक्त सैंकड़ों महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओं में विखरे पड़े हैं, जिन्हें पुस्तकाकार रूप प्राप्त नहीं हो सका है। माचवे का पूरब और पश्चिम के साहित्य और आलोचना से गहरा परिचय था। वे स्वयं भी रचनाकार थे, इसलिए उनकी आलोचना-दृष्टि स्वस्थ और स्पष्ट थी। पाल रुबिचेक की पुस्तक *अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष* का भी महत्त्वपूर्ण अनुवाद उन्होंने मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी के लिए किया था।

माचवे दर्शन के गंभीर विद्वान थे, सो उस क्षेत्र में भी काफ़ी काम किया। *विभिन्न धर्मों में ईश्वर कल्पना*, *आधुनिक भारतीय विचारक*, *ईस्ट वर्सेस वेस्ट इन फ़िलॉसफ़ी एंड लाइफ़*, *बुद्धिज़्म इन इंडिया एंड सीलोन*, *हिन्दूइज़्म इट्स कंट्रीब्यूशन टू साइंस एंड सिविलाइजेशन*, *सौ सवाल एक जवाब* (गाँधीजी पर) आदि पुस्तकें उनके दार्शनिक विचारों से ही उपजी है।

जैनेन्द्र के विचार पुस्तक जब संपादित की थी, तब माचवे केवल बीस बरस के थे। लेकिन साहित्य और दर्शन में गहरी रुचि थी। 1935 में ही *माधुरी* में 'वह विक्षिप्त दार्शनिक नीत्शे' विस्तृत लेख लिख चुके थे। 1937-38 में निराला ने *सुधा* में 'नृत्यकला में मनोविज्ञान' लेख पहले पृष्ठ पर छापा था। रामवृक्ष बेनीपुरी ने *कर्मवीर* में रेखाचित्र छापे थे। *आजकल* में छपे ललित निबंधों पर शिवपूजन सहाय और धीरेन्द्र वर्मा ने बधाई के पत्र भेजे थे।

1937 में प्रकाशित *जैनेन्द्र के विचार* पर कड़ी आलोचनात्मक प्रतिक्रियाएँ हुईं। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'विचार' को 'विकार' कहा। मित्र वीरेन्द्र कुमार जैन और काशीनाथ त्रिवेदी तो इस किताब पर रीझ गए। 1940 में जब सेवाग्राम में विवाह हुआ तो हर हिन्दीभाषी को केवल इसी किताब का पता था। *तार सप्तक* तो 1943 में आया—उसमें तो 'एक बटा सात किताब' ही थी। खुद की पहली किताब *ख़रगोश के सींग* तो 1950 में छपी। इससे सिद्ध होता है कि माचवे आलोचक पहले थे, कवि या और कुछ बाद में। उनकी आलोचनात्मक प्रतिभा के क़ायल तो देवीशंकर अवस्थी भी थे—उन्होंने *विवेक के रंग* पुस्तक में माचवे की लिखी समीक्षा भी संकलित की है।

भारतीय और पश्चिमी दर्शनशास्त्र ग्यारह साल माचवे ने भारत में पढ़ाया, डेढ़ साल अमेरिका में अंत तक गाँधी दर्शन पर चिन्तन-मनन और लेखन करते रहे। हिन्दी भाषा और साहित्य पर अंत तक उनका चिन्तन-मनन चलता रहा।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद में उन्होंने 28 तथा 29 जुलाई, 1984 को 'हिन्दी आलोचना के अतीत और वर्तमान' पर तीन व्याख्यान दिए थे, जिसमें उन्होंने हिन्दी आलोचना का अतीत, छायावाद और परवर्ती समीक्षा, हिन्दी आलोचना और भारतीय भाषाओं का साहित्य पर प्रकाश डाला था। बाद में उनके ये व्याख्यान पुस्तकाकार रूप में भी प्रकाशित हुए। उन्होंने अपने इन व्याख्यानों में हिन्दी आलोचना से संबंधित कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी उठाए थे—जैसे—प्राचीन ग्रंथों में प्रामाणिकता की पाठभेद की समस्या, निरपेक्ष ऐतिहासिक दृष्टि अथवा कवि-जीवनपरक, धर्मविश्वासवाली आलोचना-पद्धति की वरीयता; संप्रदाय विरोधी सुधारक दृष्टि या विशुद्ध साहित्यिक निकष की मान्यता; अतिशयोक्तियों, शत्रु पक्ष की दुर्दशा और संप्रदाय विशेष की सीमा, राष्ट्रीयधारा के साथ विश्व-चेतना की संगति, शृंगारिकता में आध्यात्मिकता का समावेश, करुण रस कहाँ तक मार्मिक तथा उदात्त कहाँ तक दयनीय; रचना शक्ति कहाँ तक रचनेतर सामाजिक, सांस्कृतिक मूल्यों से जुड़ना सम्भव, मार्क्सवाद और वर्गचरित्र की साहित्य क्षेत्र में अनिवार्यता जैसी समस्याएँ उन्होंने इन व्याख्यानों में उठाई हैं। माचवे का श्रवणीय श्रम पठनीय भी है। नई व्याख्यानों की भूमिका में प्रसिद्ध कवि डॉ. जगदीश गुप्त ने लिखा है :

"श्री प्रभाकर माचवे हिन्दी के ऐसे वरिष्ठ एवं अनुभवी साहित्यकार हैं, जिनका क्षेत्र केवल हिन्दी तक सीमित नहीं है। मूलतः मराठीभाषी होकर वे बाङ्ला, गुजराती आदि अनेक भाषाओं का ज्ञान रखते हैं, इतना कि उन्हें 'सजीव ज्ञानकोश' कहा जा सकता है। उनका लेखन और भाषण भी प्रायः कोशात्मक होता है। साहित्य, संस्कृति और कला में उनकी असाधारण पैठ रही है। कवि, उपन्यासकार, निबंधकार, समीक्षक और संपादक के रूप में उनकी प्रसिद्धि अखिल भारतीय स्तर पर मान्य है।"

माचवे ने दो-तीन पीढ़ियों के सैकड़ों लेखकों, कवियों, उपन्यासकारों और समीक्षकों को बहुत निकट से देखा और उन पर लिखा था। वे जैसे लेखक थे, वैसे ही समालोचक थे। तुरंत फलदायी आलोचना लिखने में उन्हें महारत हासिल थी। कई बार उनकी आलोचना रचना से अधिक जानदार, रोचक और दिलचस्प हो जाती थी।

डॉ. माचवे ने समीक्षा, आलोचना, टीका, सम्मति सभी कुछ लिखा। *सरिता* में वे वर्षों 'समीक्षा' का स्तंभ लिखते रहे। प्रति माह नई किताबों की चर्चा इसमें होती थी। माचवे ने 'समीक्षा की समीक्षा' भी लिखी। लेख और छिटपुट समालोचनाओं को मिलाकर हज़ारों पृष्ठों से अधिक सामग्री हिन्दी, अंग्रेज़ी, मराठी में माचवे की मिल जाएगी। *साहित्य संदेश* के पहले अंक के 'किताब और आदमी' लेख से लेकर पचासों पुस्तकों की समालोचनाएँ लिखीं। 'बुद्ध' और 'रोम्यां रोलां' पर विशेषांकों के पूरे-के-पूरे अंक ही माचवे ने लिख दिए थे।

वे हिन्दी की वर्तमान आलोचनात्मक स्थिति से असंतुष्ट थे। वे लिखते हैं :

''हिन्दी आलोचना का वर्तमान मुझे विशेष उल्लेख योग्य या विचारोत्तेजक नहीं लगता, मेरी यही मान्यता है कि हिन्दी में इतने सारे ग्रंथ, समालोचना के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्षों पर प्रकाशित होने पर भी, देश के बाहर छोड़िए, अन्य भारतीय भाषाओं में क्यों किसी समालोचनात्मक ग्रंथ का अनुवाद नहीं हुआ।" अपनी आलोचना के बारे में वे 'आइंस्टाइन' का यह वाक्य दोहरा देते थे कि "मुझे इसी का समाधान है कि मैंने असत्य के साथ समझौता नहीं किया।''

पत्रकार माचवे

साहित्यसृजन के साथ-साथ पत्रकारिता को भी गौरवान्वित करनेवाले साहित्यकार पत्रकारों में डॉ. प्रभाकर माचवे का नाम प्रमुख है। यह विचित्र संयोग ही था कि उनकी सक्रिय जीवनयात्रा मालवा भूमि से आरंभ हुई और उसका समापन भी वहीं हुआ। इस यात्रा का पहला पड़ाव उज्जैन का माधव कॉलेज था और अंतिम पड़ाव रहा इंदौर, जहाँ वे तीन वर्षों तक (मृत्युपर्यन्त) दैनिक *चौथा संसार* के प्रधान संपादक रहे। सक्रिय पत्रकारिता से यद्यपि उनका संबंध कम ही रहा, किन्तु अपनी सिद्धहस्त लेखनी से उन्होंने *चौथा संसार* दैनिक को मध्यप्रदेश से निकलनेवाले महत्त्वपूर्ण पत्रों की पंक्ति में ला खड़ा किया। 1988 के सितंबर से वे इंदौर के *चौथा संसार* में काम करने लगे थे और नित्य तीन संपादकीय—एक स्थानीय, एक राष्ट्रीय, एक अंतर्राष्ट्रीय या व्यंग्यविनोदवाला लिखते थे। प्रवास पर जाने से पहले उतने रोज़ के 'संपादकीय' पहले ही लिख के दे जाते थे। इसके अलावा विशेष अवसरों पर महापुरुषों की जयंती-पुण्यतिथि पर, उत्सव विशेष पर, महान साहित्यिकों-कलाकारों के अवसान पर संस्मरणात्मक कुछ-न-कुछ अवश्य लिखते थे। 'सादुल्ला' नाम से 'खरी-खरी' व्यंग्य की टिप्पणियाँ-पुस्तक चर्चा आदि अलग होती थीं। "क़रीब पाँच-छह सौ पृष्ठों की पुस्तकाकार सामग्री मैंने लिखी है। यदि आप इसे पत्रकारिता कहें तो मान लेता हूँ कि मैं पत्रकार हूँ। वर्ना अपने आपको पत्रकार कहते हुए मुझे संकोच होता है। मेरी आयु पत्रकारिता की ढाई वर्ष है। वैसे मैं पत्र (पोस्टकार्ड ज़्यादा 'इनलैण्ड' कम) बहुत लिखता रहता हूँ। इस नाते मैं 'पत्र' कार हूँ।" (देवकृष्ण व्यास की बातचीत से)

1934-35 से वे लगातार पत्र-पत्रिकाओं में लिखते आ रहे थे नाम से, गुमनाम से। कर्मवीर, स्वराज्य, *अर्जुन* आदि में वे लिखते थे। संपादक के नाते उनका नाम *भारतीय संस्कृति* (त्रैमासिक), *सन्दर्भ भारती* (कलकत्ता), *आजकल, भाषा* और *संस्कृति* (शिक्षा मंत्रालय की) तथा नार्वे से प्रकाशित *शांतिदूत* में भी सलाहकार संपादक के रूप में छपता था। कई पत्रिकाओं के वे अतिथि संपादक रहे। *नेशनल हेराल्ड* का बुद्ध विशेषांक पूरा-का-पूरा लिख डाला। उसमें वर्षों पुस्तक समीक्षा लिखते रहे। पी.टी. आई. (हिन्दी) के लिए पचासों फ़ीचर लेख लिखे। अनेक रिपोर्ताज, प्रवास-वर्णन, संगोष्ठियों के वर्णन, व्यक्तिव्यंजक लेख आदि पर्याप्त संख्या में लिखे।

हिन्दी के सारे संपादकाचार्यों और बड़े साहित्यिक संपादकों से आपका संबंध रहा। उनमें माखनलालजी, बनारसीदासजी, रामवृक्ष बेनीपुरी, हरिभाऊ उपाध्याय, काका कालेलकर, प्रेमचंद, वात्स्यायन, जैनेन्द्रकुमार, महादेवी, गोपालसिंह नेपाली, हेमचंद्र जोशी, इलाचंद्र जोशी, सत्यकाम विद्यालंकार और कृष्णचंद्र अग्रवाल प्रमुख हैं। समवयस्क संपादक, सहसंपादक तो सैकड़ों परिचित होंगे।

वे पत्रकार को राजनेता से बड़ा मानते थे, "मैं तो हर 'सारस्वत' की, सच्चे लेखक, साहित्यकार, कवि, पत्रकार की भूमिका समाज निर्माण में महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। वह विचारों को गति और दिशा देता है। राजनेता तो आते-जाते हैं, पर गणेशशंकर विद्यार्थी या बाबूराव विष्णु पराड़कर बार-बार नहीं आते। नेहरू चलपतिराव को आदर देते थे। तिलक, केलकर को अपना दाहिना हाथ मानते थे। पर आज ऐसे पत्रकार कहाँ हैं? जिनकी बात कोई भी राजनेता ध्यान से सुने। नेतृत्व के पतन के साथ पत्रकारिता भी बहुत गिर चुकी है।"

डॉ. माचवे किसी राजनीतिक विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध कभी नहीं रहे। शुरू से वे गाँधीवादी रहे, पर विनोबा, नेहरू और लोहिया के विचारों का भी आदर करते थे। "महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, लालबहादुर शास्त्री से लगाकर विभिन्न पार्टियों के नेताओं की मुझ पर कृपा रही। आचार्य नरेन्द्र देव हो या पी.सी. जोशी, साने गुरुजी हों या सरदार पृथ्वीसिंह, यशवंतराव चव्हाण हों या काकासाहब गाडगिल, एम.एन. राय हों या डॉ. जाकिर हुसैन सबके साथ मेरे संबंध रहे, परंतु उनके अनुग्रह का मेरी पत्रकारिता से कोई संबंध नहीं रहा। हाँ, मेरे लेखन पर उनका अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ा है। पत्रकारिता भी एक स्वायत्त अनुशासन है। उसे राजनीति से परे मानना चाहिए। राजनीति क्षण-क्षण परिवर्तित होती वस्तु है। पत्रकारिता अधिक स्थायी और प्रभावशाली है।"

वे पत्रकारिता की वर्तमान हालत से क्षुब्ध भी होते थे, "मलयाळम, मराठी, तेलुगु, तमिष़, बाङ्ला पत्र अच्छी-ख़ासी तरक़्क़ी कर रहे हैं। पिछड़ेपन का भूत हिन्दी, पंजाबी, उर्दू भाषा के पत्रों के पीछे लगा हुआ है। अंग्रेज़ी के प्रति मोह भी देश में बढ़ता जा रहा है। वहाँ पैसा भी अधिक है, प्रतिष्ठा और अवसर भी अधिक है। कोई भी प्रखर पत्रकार हिन्दी जगत में गए बीस वर्षों में ऐसा नहीं पनपा, जिसकी धाक सब मानें।"—यह बात कमोबेश आज भी हिन्दी पत्रकारिता के लिए सच्ची है। आज भी दृश्यपटल अधिक बदला नहीं है।

डॉ. प्रभाकर माचवे ने अपने कृतित्व के उत्कर्ष पर, 70 वर्ष की पकी उम्र में, मध्यप्रदेश में एक नए अख़बार *चौथा संसार* का, संपादकत्व स्वीकार किया। उन्होंने एक नए अख़बार को लगभग चुनौती की तरह लिया, उस उम्र में, जिसमें अमूमन लोग राम नाम जपते हैं। *चौथा संसार* के संपादकीय भारतीय समाज में एक नई आशा लेकर उभरे। उन्होंने यह सिद्ध किया कि कला और साहित्य के साथ संपादकीय को

जोड़कर एक नई रचनाधर्मिता पैदा की जा सकती है। माचवे ने *चौथा संसार* में संपादकीय स्तंभ को एक नया स्वरूप और शैली दी। आमतौर पर दैनिकों के तीनों संपादकीय कभी प्रधान संपादक नहीं लिखता। अलग-अलग सहायक संपादक अलग-अलग संपादकीय लिखते हैं, पर माचवे तीनों संपादकीय ख़ुद लिख देते थे और जब यात्रा पर होते थे तो कई संभावित घटनाओं पर पूर्वाभास के आधार पर ही संपादकीय लिखकर रख जाया करते थे। माचवे के संपादकीय साथी उस संपादकीय को मौजूँ बनाकर छाप देते थे, पर आश्चर्यचकित भी होते थे।

उन्होंने 'संपादकीय' में भी 'मैं' शैली अपनाई। 'मैं जब रूस गया था तो इनसे मिला था'—ऐसे लिखते थे और लोग समझ जाते थे, माचवे लिख रहे हैं। अख़बारों के संपादकीयों की उन्होंने दिशा एवं शैली ही आमूलचूल बदल डाली थी। अख़वारों के संपादकीयों में अक्सर राजनीतिक घटनाओं पर टिप्पणी की जाती है, लेकिन इन सबसे हटकर डॉ. माचवे अपने संपादकीयों में पुस्तक समीक्षा, शब्द समीक्षा, साहित्यचिन्तन, श्रद्धांजलि एवं ऐतिहासिक तथ्यों और अनुभवों को प्रमुखता देते थे। कई बार तो वे वर्षों पुरानी ऐसी हस्ती के साथ हुई भेंटवार्ता को भी वर्तमान प्रसंगों से जोड़कर संपादकीय बना देते थे।

साहित्य लेखन और पत्रकारिता से जीवनभर जुड़े रहने के बावजूद माचवे सनसनीखेज़ पत्रकारिता से बड़ा परहेज़ करते थे। जब भी उन्हें पत्रकार-संपादक लोग मिलते, उनसे वे पत्रकारिता के बदलते मूल्यों के प्रति नाराज़गी प्रकट करने से नहीं चूकते थे।

डॉ. माचवे के लेख और संपादकीय पढ़नेवाले पाठकों की एक बड़ी संख्या थी। एक पारंपरिक शैली और बँधे बँधाए विषयों पर संपादकीय लिखने और पढ़ने के आदी पत्रकारों और पाठकों को डॉ. माचवे के नई शैली के संपादकीय बड़े अटपटे लगते थे। जब मध्यप्रदेश के अतिरिक्त मुख्य सचिव डी.जी. भावे सेवानिवृत्त हुए तो अपनी संपत्ति के कुछ अंश से उन्होंने ग़रीब छात्रों की मदद के लिए ट्रस्ट बनाया। इस आदर्श घटना पर भी माचवे ने संपादकीय लिख दिया।

वे जब भी यात्रा पर जाते, अपने यात्रानुभवों पर संपादकीय ज़रूर लिखते थे, फिर चाहे वह यात्रा रेल से की या हवाई जहाज़ से—इनमें सहयात्रियों की आपस की बातचीत भी शामिल होती थी। लिखते-लिखते कई संदर्भ एक साथ जुड़ जाते थे, फिर चाहे वह अंक 'सात' की महिमा ही क्यों न हो—देश-विदेश में, पुराण निगमागम संगत में 'सात' क्या-क्या है? इस पर विस्तार से चर्चा होती। एक ही व्यक्ति, एक ही पुस्तक, एक ही भाषा एवं एक ही शब्द के संदर्भ में देश-विदेश की अनेक भाषाओं में हुए ज़िक्र का ज्यों-का-त्यों वर्णन कर दिया करते थे। 'शब्दक्रीड़ा' में उन्हें मज़ा आता था। वे शब्दों के साथ खेलते थे। कई बार तो कई पर्यायवाची शब्दों की झड़ी

लगा देते थे। भाषा ज्ञान उनका बहुत काम आता था। शब्द की श्लेष, उपमाओं की झड़ी लगा देते थे।

नवनीत, कादंबिनी, धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान के होली-दीवाली विशेषांकों के वे चिर-परिचित हस्ताक्षर थे। वे बाद में पी.टी.आई. 'भाषा' के लिए भी वर्ष की साहित्यिक गतिविधियों का लेखा-जोखा लिखने लगे थे। वर्ष में कौन साहित्यकार गुज़रा, किसको, कौन पुरस्कार मिला आदि सब सूचनाएँ उन्हें कंठस्थ थी। वे किसी चुटीली ख़बर को पकड़ लेते और उस पर एक व्यंग्य, एक रम्यरचना तैयार कर देते थे। उन्होंने कलकत्ता में रहते हुए लगभग सात बरस 'कलकत्ता की चिट्ठी' *साप्ताहिक हिन्दुस्तान* में लिखी। वे *दिनमान* में भी यात्रा-वृत्तांत आदि भरपूर लिखते थे। वात्स्यायनजी के कहने पर *दिनमान* में हिन्दी के कोशकारों पर एक पूरी लेखमाला चलाई। दो दिन के भीतर माचवे ने *दिनमान* के 35 मुद्रित पृष्ठों की सामग्री तैयार कर दी।

कई लोग कहते हैं कि माचवे के लेखन में तात्कालिकता ज़्यादा थी और गहराई कम। उन्होंने कई विधाओं में लिखा, वैसे उनकी प्रतिभा ऐसी विलक्षण थी कि वह किसी विधा में अँट नहीं पाती थी, इसलिए लगता है कि उनमें गहराई कम है। उन्होंने विपुल लिखा और ज़्यादातर अच्छा लिखा। गिरिजाकुमार माथुर ने उनके देहांत पर *जनसत्ता* में लिखा था, "जब मैं भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् की पत्रिका *गगनांचल* का संपादक बना तो उन्हें लगातार लिखने के लिए आमंत्रित करता रहा। इस दौरान मैंने पाया कि जिस विषय पर चाहिए, आप उनसे लेख लिखवा सकते हैं। दर्शन पर हो, इतिहास या साहित्य पर, बहुत जल्दी अपना लेख वे भेज देते थे। उनकी एक आदत यह थी, जो उनके लिए अच्छी नहीं थी कि अपनी लिखी रचना की वे कोई कॉपी नहीं रखते थे। तुरंत लिखा और उसे संपादक को भेज दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि उनकी कई रचनाएँ इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं। अपने प्रति इतने लापरवाह थे और योजनाबद्ध ढंग से काम करने के आदी नहीं थे।"

उनमें साफ़गोई बहुत ज़्यादा थी। जहाँ कहीं उन्हें कोई चीज़ ग़लत दिखती, तुरंत कहते थे, *चौथा संसार* के उनके संपादकीय उनकी इसी साफ़गोई के प्रमाण हैं। निर्भय होकर अलग खड़ा होने की ताक़त उनमें थी। वे बच-बचकर चलना नहीं जानते थे।

बेशक़ डॉ. प्रभाकर माचवे बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्हें कई विधाओं के प्रवर्तक के रूप में जाना जाएगा, लेकिन जहाँ तक पत्रकारिता का प्रश्न है, यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि वे जन्मजात पत्रकार थे।

माँग पर वे कई पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखते थे, "वैसे छुटपुट कविताएँ, लेख *नवनीत, राजस्थान पत्रिका, ट्रिब्यून, सन्मार्ग* आदि में माँग पर लिखता ही रहता हूँ।"[1]

---

1. श्रीमती वानीकर को 26 मार्च 86 का पत्र, *प्रभाकर माचवे : सौ दृष्टिकोण* में पृ. 130 पर संकलित।

"छोटे-से-छोटे अख़बार के लिए अज्ञेय से ज्ञेय, किसी भी विषय पर लिखने को मना नहीं कर पाते। अनुरोध भर करने की देर है।" (द्रोणवीर कोहली, 'एंग्री यंग मैन सत्तर के' *धर्मयुग*)

युवावस्था से लेकर जीवन के अंतिम दिन तक वे पत्रकारिता से जुड़े रहे। विविध साहित्यिक विधाओं और कल्पनावाले उनके कोमल हृदय में एक निर्भीक, प्रखर और विश्लेषण करनेवाला पत्रकार भी हरदम सजग रहता था। दर्शन, धर्म, विज्ञान, सामाजिक समस्या, राजनीति, कला, संगीत जैसे विषयों पर उनकी लेखनी निर्बाध बहती थी। विविध विषयों पर लिखे उनके हज़ारों लेख उनके अधिकारी विद्वान-पत्रकार होने का प्रमाण देते हैं। उन्होंने अपने संपादकीय लेखों को जो निजता और वैयक्तिक शैली प्रदान की, उसके लिए हिन्दी पत्रकारिता उन्हें सदैव याद रखेगी। साहित्य के अतिरिक्त विविध विषयों पर भी उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं में विपुल लेखन किया है। *आज* से लेकर *आजकल* तक, *नया संसार* से लेकर *चौथा संसार* तक, *धर्मयुग* से लेकर *नई धारा* तक, *दिनमान* से लेकर *ऋतुचक्र* तक में, *सारिका* से लेकर *पराग* और *साप्ताहिक हिन्दुस्तान* तक में उनका विपुल लेखन बिखरा पड़ा है। हिन्दी या अन्य भाषाओं में भी जब भी कोई नई पत्रिका निकलती या विशेषांक निकलता, माचवे की कोई-न-कोई रचना उसमें ज़रूर होती। यह सिलसिला उनके युवतम दौर से मृत्युपर्यन्त चला। उन्होंने फ़िल्म तथा संगीत पर भी अधिकारपूर्वक सहज, सरल, बोधगम्य शैली में लिखा। उन्होंने अपने अख़बार में सर्वधर्म समभाव पर जोर दिया तथा दैनिक में 'भाषा भगिनी' जैसा विविध क्षेत्रीय भाषाओंवाला साप्ताहिक स्तंभ चलाया, जिसमें मालवी-निमाड़ी के साहित्यकार लिखते थे। वे पत्रकारिता को जनमानस की वाणी या स्वर मानते थे। वे अक्सर कहा करते थे कि जो पत्रकार लेखक वाणी देवता या वागेश्वरी अर्थात् देवी सरस्वती की आराधना नहीं करता, वह सच्चा पत्रकार हो ही नहीं सकता।

माचवे ने उस काल में पत्रकारिता शुरू की, जब भारत में हिन्दी पत्रकारिता अपने शैशवकाल में थी। पाँच से भी अधिक दशक तक उन्होंने राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं के अलावा मुफ़स्सिल अख़बारों तक में लिखा। इन पाँच दशकों में पत्रकारिता में कई तरह के व्यावसायिक, वैज्ञानिक, वैचारिक और गुणात्मक परिवर्तन आए। मिशन या अभियानवाली पत्रकारिता समय के साथ-साथ व्यावसायिकता के कैरियर में लुप्त हो गई, उद्देश्य से हटकर स्वच्छंद हो गई। इन तमाम उतार-चढ़ावों के बावजूद माचवे अपने सिद्धांतों पर अटल रहे। सरस्वती की अविरल साधना करते रहे। *चौथा संसार* का प्रधान संपादकत्व उन्होंने तब सँभाला, जब पत्रकारिता या पत्र-संपादन अपने आपमें एक जटिल चुनौती बन गया था। 74 वर्ष की उम्र तक वे अपने दायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह करते रहे।

दार्शनिक माचवे की दृष्टि व्यापक थी। वे भली-भाँति जानते थे कि कोई भी समाचारपत्र या पत्रिका सबको ख़ुश नहीं कर सकता। कोई-न-कोई वर्ग या व्यक्ति, पत्र या संपादक के विचार से असंतुष्ट रहेगा ही। वे अपनी सीमाओं को जानते थे। ग्राहक संख्या, प्रचार-प्रसार, विज्ञापन सेवा, पाठकों की सेवा इन सब व्यावसायिक पक्षों से अलग रहकर वे सारस्वत साधना और पत्रकारिता की सेवा करते रहे। उनके शब्दों में, "पत्रकारिता भी एक तरह की सरस्वती पूजा या वाग्यज्ञ है। इस अंकुर का बड़ा पेड़ तभी बन सकता है, जब आप उसका सही सींचन करें। इस महासरस्वती की पूजा में एक छोटे से निर्मधुर मन को चढ़ाने का काम हम करते रहे हैं। पत्र द्वारा केवल समाचार फैलाना नहीं, परंतु राष्ट्रभाषा की विनम्र सेवा हम करते रहे हैं।"

वे राष्ट्रभाषा की विनम्र सेवा अंत तक पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से करते रहे। व्यक्ति, दल या वर्ग विशेष का लेखनी के माध्यम से अनावश्यक समर्थन या अतिवाद उन्हें कभी भी पसंद नहीं था। उनके संपादन में *चौथा संसार* ने दो वर्ष पूरे कर लिए तो उन्होंने अत्यंत भावविभोर होकर लिखा कि, "हमारा लक्ष्य जनसाधारण या पाठक रहा है। हम न तो किसी राजनीतिक दल, पक्ष या पार्टी के पिछलग्गू बने, न उसके तूर्य या भौंपू या लाउडस्पीकर बने, न आगे बनने का विचार है।"

अंत तक उनकी पत्रकारिता का यही आदर्श रहा। डॉ. माचवे अपने जीवन के अंतिम क्षण तक साहित्य लेखन और पत्रकारिता से जुड़े रहे। वे प्रतिदिन सुबह घर आनेवाले हिन्दी-अंग्रेज़ी तथा अन्य भाषायी अख़बार पढ़ते। देश-विदेश की विभिन्न घटनाओं और राजनीतिक गतिविधियों पर चिन्तन करते। अपने अख़बार के लिए वे सुबह-सुबह ही संपादकीय लिख दिया करते थे और कार्यालय पहुँचते ही सबसे पहले अपनी लिखी चीज़ें कंपोज होने के लिए दे देते थे।

डॉ. माचवे अपने देहांत के समय भी देश के चुनावी नतीजों पर संपादकीय लिख रहे थे। उनके अध्ययन कक्ष में मेज़ पर उनकी किताबें, क़लम, चश्मा तथा पत्र-पत्रादि ज्यों-के-त्यों रखे थे। सुबह-सुबह डाक से आई पत्रिका को देखने के बाद उन्होंने अपनी शोध छात्रा संध्या भराड़े से कहा कि, "आजकल कैसी-कैसी पत्रिकाएँ निकलने लग गई हैं।" डॉ. माचवे का संकेत पत्र-पत्रिकाओं के गिरते स्तर की ओर था।

कलाकार माचवे

"माचवे ने हिन्दी साहित्य को कई रचनाएँ दी हैं। हिन्दी पाठक उन्हें सरस कवि, चिन्तनशील कहानी, एकांकी लेखक और समालोचक के रूप में जानते हैं। परंतु माचवे अपने विचारों को केवल साहित्य में ही रूप नहीं देते, वे रेखा और रंग के सहारे भी उसे मूर्तिमान करना जानते हैं। हिन्दी के प्रसिद्ध चिन्तनपरायण साहित्यकार श्री अज्ञेयजी से इस विषय में वे तुलनीय हैं। आजकल ऐसे कम ही साहित्यकार मिलते हैं, जिनमें चिन्तन, मनन, अध्ययन और सरसता का ऐसा मणिकांचन संयोग हो।"

—हिन्दी के प्रसिद्ध चित्रकार-आलोचक कवि डॉ. जगदीश गुप्त ने माचवे के इस गुण की प्रशंसा की थी। 'शब्दरेखा' नामक माचवे की पुस्तक के वारे में उन्होंने लिखा है :

"*शब्दरेखा* जैसी कोई पुस्तक हिन्दी में मेरे देखने में नहीं आई। माचवेजी का शब्दबोध और रेखावोध दोनों इसमें परस्पर प्रतिस्पर्धी होकर समाहित है। कितने राष्ट्रनेता, कितने साहित्यकार, कितने भाषाविद् और कितने कलाकार एवं जनप्रिय व्यक्तियों की छवियाँ उन्होंने उतारी हैं। मुखाकृतियों की पहचान में वे बहुधा सफल हुए हैं, तभी तो संबद्ध महानुभावों ने अपने हस्ताक्षर करके उनके कलाकर्म को मान्यता दी है। वे प्रायः फ़ाउंटेन पेन से या डॉट पेन से चेहरे बनाने के अभ्यस्त हैं, पर इस पुस्तक में काली स्याही से आँख और तूलिका का उपयोग भी उन्होंने किया है।"[1]

जैसे उनकी साहित्यिक दृष्टि अखिल भारतीय है, वैसे ही उनकी मुखाकृतियों की पहचान भी देशव्यापी (अन्तर्राष्ट्रीय भी) आयाम रखती है। अमेरिका, यूरोप, रूस और मॉरीशस आदि देशों की यात्राओं में भी उनकी कला-चेतना जागृत रही है। इन चित्रों में कहीं-कहीं देशी और विदेशी मुखाकृतियों की पहचान करना या उनमें अंतर करना कठिन हो जाता है। माचवे जैसे शब्दों से व्यंग्यबाण छोड़ते हैं, वैसे ही तूलिका से किसी को मारे बिना नहीं छोड़ते, इस मारने में ही उन्हें 'अमर' करने का भाव भी छिपा रहता है।

---

1. चित्रता और मित्रता के प्रतीक : डॉ. जगदीश गुप्त, प्रभाकर *माचवे : सौ दृष्टिकोण*, सं. मारुतिनंदन पाठक।

माचवे ने यों तो बहुत से साहित्यकारों के चित्र बनाए हैं, निराला से लेकर नए-से-नए कवि तक के, पर सबसे उल्लेखनीय निराला का चित्र जान पड़ता है, जिसके नीचे 12 अक्टूबर 1958 को हिन्दी के इस महाकवि ने अंग्रेज़ी में लिखा है, "आई थैंक प्रभाकर माचवे फ़ॉर दिस स्केच।" *शब्दरेखा* में कई साहित्यकारों के रेखाचित्र हैं, पर इनमें सागर निज़ामी, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, सुंदरम् एवं उमाशंकर जोशी के नाम और चित्र सहज ही याद आते हैं। जोशीजी के चित्र में प्रभाकर को वार्धक्य की जगह 'तरुणाई' दिखाई दी है। ओ.सी. गांगुली, हुँमायूँ कबीर और भाई वीर सिंह के चित्र भी अविस्मरणीय हैं। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, ज़ाकिर हुसैन और जयप्रकाश नारायण के चित्र बहुत अच्छे बनाए हैं। हिन्दी के साहित्यकारों की छवियाँ उतनी जीवंत नहीं बन पाई हैं। शायद उनका व्यक्तित्व उन्हें वैसा जीवंत न लगा हो या अतिपरिचय के कारण ऐसा हुआ हो! *शब्दरेखा* में अज्ञेय जैसे जीवंत व्यक्तित्व का एक भी चित्र नहीं है—यह शंका का कारण है—शायद वाद के समय में उनसे मतभेद या मनमुटाव के कारण ऐसा हुआ हो।

शब्दरेखा की भूमिका में माचवे ने अपने कलाकर्म के बारे में लिखा है, "चित्रकला की थोड़ी बहुत ट्रेनिंग इंदौर स्कूल ऑफ़ आर्ट में गुरु देवलालीकर से ली थी, सन् उन्नीस सौ तीस और चौंतीस के बीच। मैंने एक मालवी किसान का (लाल पगड़ी और हरे बैकग्राउण्डवाले) पोर्ट्रेट तैल रंगों में बनाया था। कैनेडियन मिशनरी प्रोफ़ेसर ने उसे ख़रीदा। वह क्रिश्चियन कॉलेज, इंदौर की स्टाफ़ रूम की दीवार पर वर्षों टँगा रहा। बाद में वह किसी कबाड़ख़ाने में शायद चला गया।"

विक्रमकुमार, संपादक *ऋतुचक्र* से एक भेंट में माचवे ने अपनी कला शिक्षा के बारे में बताया है, "जब मैं 1931 में क्रिश्चियन कॉलेज इंदौर में आया तब देवलालीकर साहब पढ़ाते थे हमको, जहाँ पर आज देवलालीकर कला-वीथिका है, वहाँ नवरत्न मंदिर होता था, उसके पास में एक छोटी-सी ऊपर गैलरी, जहाँ स्कूल है नीचे, वहाँ पर मैं और बेन्द्रे साहब चित्रकार और एम.एफ़. हुसैन, एम.एस. जोशी भी थे, हम सब लोग 'ऑर्ट स्कूल' के स्टूडेण्ट थे। सबेरे-सबेरे भागकर वहाँ जाता था, 'आइलपेण्ट' से सब हाथ भरे रहते थे। वहाँ से भागता हुआ आता था, रास्ते में दो आने में दो रोटी और पापड़भाजी मिलती थी, वह खाकर के और किसी तरह ठूँस करके और फिर क्रिश्चियन कॉलेज में 'बाइबिल' एक क्लास होती थी कंपलसरी, उसमें जाना पड़ता था।"[1]

इससे पता लगता है कि माचवे ने कितने अभावों के बीच रहकर कला साधना की और अंत तक इसे जीवित रखा। बचपन में ही *बाइबिल, क़ुरान* आदि धर्मग्रंथों का अध्ययन करके वे सर्वधर्म प्रचारक के रूप में देश-विदेश में विख्यात हुए। विदेशों

1. विक्रमकुमार के साथ बातचीत, *ऋतुचक्र,* मार्च-जून 1989. पृ. 53

में—अमेरिका में विशेषकर—वेदों, उपनिषदों, पुराणों पर जो व्याख्यान उन्होंने दिए—वे उनके धर्मनिरपेक्ष व्यक्तित्व को ही उजागर करते हैं। उन्होंने सब तरह की शराब चखी, लेकिन शराबी नहीं हुए, सब तरह के व्यंजन खाए; बहू की बनाई स्वादिष्ट मछली का भी स्वाद लिया, लेकिन वे मांसभक्षी नहीं थे। स्वादिष्ट मराठी शाकाहारी व्यंजन उन्हें प्रिय थे।

इसी इंटरव्यू में उन्होंने बताया है कि यंत्रविरोधी होने के कारण आजीवन क़लम-कूची से ही लिखा या चित्र बनाए। टाइपराइटर का कभी प्रयोग नहीं किया। हाथ से ही चित्र बनाते थे। अपने प्रेरणा-पुरुष वात्स्यायन की तरह कई बार कैमरे ख़रीदे, पर फ़ोटोग्राफ़ी का शौक़ नहीं पाला—सब कैमरे बाँट दिए। फ़ोटोग्राफ़ी नहीं की। हाथ से चित्र बनाए, "तो हमारे मन में एक बहुत बड़ा जो है घोर आक्रोश या सबसे ज्यादा गुस्सा किसी चीज़ पर, वह यंत्र मात्र पर है। मैं यंत्र से बहुत नफ़रत करता हूँ। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि मैं साइकिल पर नहीं चढ़ सकता। एक बार चढ़ा तो गिर पड़ा था। और मैं किसी यंत्र का प्रयोग नहीं करता। न टाइपराइटिंग मैंने किया, इतना दुनिया में घूम आया हूँ।" उन्होंने लिखा, "हाथ से चित्र बनाना अच्छा समझता हूँ। इस यंत्र-विरोध का कारण अब मुझे लगता है कि बहुत आधुनिक नहीं है। टेलीफ़ोन तो रखना ही पड़ता है, फिर भी इसका उपयोग मैं बहुत कम करता हूँ, क्योंकि मुझे टेलीफ़ोन से बड़ी एलर्जी है। आता है दूसरा बाहर का, तब सुनता हूँ, लेकिन स्वयं मेरी इच्छा नहीं होती कि मैं किसी को टेलीफ़ोन करूँ। जब ज़बर्दस्ती जाना ही पड़ता है, यात्रा करनी ही पड़ती है, इसलिए बस या ट्रेन या विमान में बैठना ही पड़ता है, लेकिन मेरा बस चले तो मैं यंत्र से बहुत दूर रहूँगा। यह यांत्रिकता जितनी भी है जीवन में, उससे मुझे नफ़रत बहुत है।"[1]

हर जगह हरेक चित्र बनाने, स्केच करने की उनकी इस प्रवृत्ति का कई लोग बेजा फ़ायदा उठाने की कोशिश करते थे, पर वे उन्हें झिड़क देते थे, "मुझे वे लोग बिलकुल पसंद नहीं आते जो कहते हैं, मेरा चित्र बनाओ। मेरी इच्छा होती तो उनका चित्र बनाता हूँ, नहीं होती तो नहीं बनाता।"

उन्होंने अपनी इस कला को स्वांतः सुखाय ही रहने दिया। इसे पेशा नहीं बनाया। वे कभी कोई स्केच बुक या स्केचिंग पेन लेकर नहीं चलते थे। जहाँ जैसा मौक़ा मिला, वैसा चित्र बना दिया। चाहे जिस काग़ज़ पर, चाहे जिस क़लम से, पेंसिल से ही सही, चित्र बना दिए। कभी किसी समारोह में गए तो निमंत्रण पत्र (कार्ड) के दूसरी तरफ़ की कोरी जगह पर चित्र बना देते थे। उनके मित्र मुक्तिबोध लिफ़ाफ़े की दूसरी तरफ़ कविता लिखते थे, वे लिफ़ाफ़ों के पीछे चित्र बना देते थे। उनके एक

---

1. विक्रमकुमार के साथ बातचीत, *ऋतुचक्र*, मार्च-जून 1989. पृ. 53

अन्य मित्र शमशेर बहादुर सिंह तो बाक़ायदा तूलिका लेकर कैनवस पर तैल रंगों में चित्र बनाते थे–बाक़ायदा चित्रकार थे, जबकि माचवेजी शौकिया चित्रकार थे।

शब्दरेखा की 'भूमिका' में उन्होंने लिखा भी है, "चूँकि हर वक़्त मैं अपने साथ कोई स्केचबुक या स्केचिंग पेन लेकर नहीं चलता (डॉ. जगदीश गुप्त का कहना है कि मुझे ऐसा करना चाहिए) चाहे जिस काग़ज़ पर, चाहे जिस साधन से, चाहे जहाँ बनाए हुए, ये चित्र हैं। सो उनका साफ़ ब्लॉक बनने में भी दिक़्क़त आ रही है।"

शब्दरेखा के इन चित्रों के अलावा उन्होंने कुछ पुस्तकों के आवरण बनाए, कुछ पत्रिकाओं में लेख के साथ चित्र छपने को भेजे, 'समरहिल' शिमला में रहते हुए रंगीन चित्र बनाया, जो उनके ड्राईंग रूम में (ग्रेटर कैलाश पार्ट-2, ई 180 नई दिल्ली में) अभी तक टँगा है। *चौथा संसार* में 'कीकेगार्द की समाधि पर' कविता के साथ चित्र बनाकर दिया है। अंत तक उनकी 'क़लम और तूलिका' चलती रही। उन्होंने शब्दसाधना के साथ क़लमसाधना भी की। शब्दसाधकों के साथ कलासाधकों को भी याद किया। रामकिंकर बैज, नंदलाल बोस, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बेन्द्रे, यामिनी राय, सत्यजीत राय के कलाकर्म पर उनका लिखा स्थायी महत्त्व का है।

वे मानते थे कि कवि को कला से संबंध अनिवार्य रूप में रखना चाहिए। वे कहते थे कि पुराने ज़माने में चित्र लिखे जाते थे और पोथी 'चित्रित' होती थी। कवि के घर में चित्रफलक रखना अनिवार्य था। 'काव्यमीमांसाकार' राजशेखर भी कवि चर्चा में यही कह गए हैं–जहाँ वाणी रुक जाती है, शब्द पुराने पड़ जाते हैं, उपमान मैले पड़ जाते हैं, वहाँ चित्र साथ देता है। चित्र भाषा से अधिक गहरा और अधिक व्यापक प्रभाव रखता है। कला समीक्षा और कला आलोचना में उन्होंने मानक स्थापित किए। प्रयाग शुक्ल और विनोद भारद्वाज जैसे युवा कला समीक्षकों की समीक्षा भी वे ध्यान से पढ़ते थे और मिलने पर उन्हें बधाई देते थे।

उनकी धारणा थी कि "हमारे यहाँ प्राचीन मान्यता में शब्द प्रमाण, शब्द दिया लिया जाता है, पर रेखाएँ तो उभरती मिटती रहती हैं। हस्तरेखाएँ भी बदलती रहती हैं।" वे मानते थे कि सुनने और देखने में चार अंगुल का अंतर है। इसीलिए 'शब्दरेखा' नाम दिया।

शब्दरेखा में रेखाओं के साथ शब्दों की भी भरमार है। 'शब्दचित्र' व्यंग्यात्मक है। व्यंग्यों में गुण से ज़्यादा विसंगतियों को उभारा गया है। संकेत से उन बातों पर ज़्यादा ज़ोर दिया है, आमतौर पर जिनको लोग नज़रअंदाज़ कर देते हैं। स्केचों में नहीं, लेखों में व्यंग्य शैली अधिक मुखर हुई है। आँकना, लिखना, चित्रण करना, प्रदर्शन करना, निरूपण करना आदि सारी क्रियाएँ भाषा में चित्रकला से ही आई हैं। शब्द ब्रह्म है, पर रेखा उनके लिए शब्द से भी ऊपर थी।

मराठीभाषी होते हुए भी गुजराती, बाङ्ला, ओड़िया, पंजाबी, राजस्थानी, कश्मीरी, डोगरी तथा उर्दू आदि देशीय भाषाओं के अतिरिक्त जर्मन, रूसी और फ्रेंच

के ज्ञाता बहुभाषाविद् प्रभाकर माचवे मौलिक लेखक, उत्कृष्ट अनुवादक, कोशकार और अध्येता ही नहीं, कलाकार भी थे। कितने ही लैण्डस्केप, लाइफ़पेंटिंग, स्केच और रेखाचित्र उन्होंने बनाए हैं। प्रतिभा और प्रेरणा के अद्भुत समन्वय ने इसीलिए उन्हें अत्यंत जीवंत व्यक्तित्व प्रदान किया था। वे वाहरी आडंबरों से रहित सहजता और सरलता से अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होते रहे। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व में अनेक इंद्रधनुषी रंग भरे हुए थे। कितने ही नए लेखकों की पुस्तकों के कवर डिज़ाइन तथा नई लघु पत्रिकाओं के आवरण उन्होंने वना दिए थे।

एक वार माचवेजी ने अपनी कविताओं को चित्रकला से शब्द उधार लेकर 'इम्प्रेशनिस्ट' और 'बिम्बवादी' शब्द से विश्लेषित किया था। लेकिन वे यह भी मानते थे कि 'बिम्बवाद' ही कविता नहीं है, वे लिखते हैं, "संभव है कि मुझमें का चित्रकार मुझमें के कवि पर हावी हो रहा हो। संभव है, किसलई, सेजोन, गोवा, डी.रेवेश की चित्र–शैलीगत वर्णयोजना, रिल्के, एलियट, लारेंस, स्पेंडर, सेसिल डे, लुईस और ऑडेन की पद्य-रचनागत वर्ण योजना से टक्कर न खाती हो, परंतु चूँकि मैं विशेष को साधारण से अविच्छिन्न और अविभाज्य मानता हूँ। एक ओर जहाँ मैं स्वांतः सुखाय को 'स्वरति' कहने में नहीं हिचकता, वहीं दूसरी ओर 'त्रात्सकी' के 'कला हथौड़ा है' वाले नारे से भी सहमत नहीं होना चाहता।" माचवेजी ने कभी अपनी कला को हथौड़ा नहीं बनाया। वे 'कला, कला के लिए है' में ही विश्वास करते रहे।

उन्होंने कला का भी गहन अध्ययन किया था। वह भी केवल सिद्धांत तक ही सीमित नहीं था, बल्कि स्वयं भी वे एक अच्छे कलाकार वने। डॉ. प्रभाकर माचवे ने यूँ तो लगभग सभी माध्यमों में काम किया, मगर रेखांकन उन्होंने अधिक बनाए। भारत में हो या किसी अन्य देश में जब भी किसी ऐतिहासिक स्थान से रू-ब-रू हुए या अत्यंत आधुनिक शहरों में भटकते रहे, तो पेन और स्केच दोनों से अपने यादगार क्षणों को डायरी में अंकित किए। वे कैमरे की जगह डायरी और क़लम लेकर यात्राओं पर जाते थे। वे अपनी स्कैचबुक में अपनी यात्राओं की चित्रात्मक यादें छोड़ गए हैं। उनके *धर्मयुग* आदि में छपे यात्रा-वृत्तांत उनके हाथ से बनाए इन्हीं चित्रों के कारण एक नई 'अर्थाभा' पा जाते हैं। 1972 में सोवियत भूमि पुरस्कार पाने के बाद वे रूस यात्रा पर गए तो उस यात्रा के दौरान समरकंद में तैमूरलंग की समाधि पर बनाया, वह रेखाचित्र अब भी मेरे पास धरोहर के रूप में मौजूद है।

उनके रेखाचित्रों में केवल समाधि, खंडहर या ख़ाली पड़ी इमारतें ही नहीं हैं, प्रकृति के उल्लासपूर्ण चटक रंग भी हैं। इनमें शिमला की पहाड़ियों पर खिली धूप है तो कलकत्ता के बाग़ीचे में उदास बैठा जोड़ा भी है।

उन्होंने अनेक महान साहित्यकारों और महत्त्वपूर्ण नेताओं की शबीहें बनाई हैं। काफ़ी तेज़ गति से रेखाचित्र बनाने में उन्हें ऐसी महारत हासिल थी कि उनके लिए

रेखांकन, रेखांकन नहीं, फ़ोटोग्राफी की मानिन्द हो गया था। वे जब भी किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति से मिलते तो चंद लम्हों में उसका रेखाचित्र बना देते और वह ज़िन्दगी भर के लिए उनका मुरीद हो जाता था। साधन के अभाव का बहाना किए बग़ैर जेब में पड़े हुए काग़ज़ के टुकड़े या कहीं से हाथ आए हुए सिगरेट के बक्से पर ही फ़ाउंटेन पेन या डॉट पेन, किसी से भी अपना काम चला लेते थे।

डॉ. माचवे चित्रकला और फ़ोटोग्राफ़ी की प्रदर्शनियों में जब तब जाते रहे और बड़ी विद्वत्ता से उस कला की विशेषताओं और तकनीकी पक्षों पर लिखते-बोलते रहे।

शब्दरेखा की 'भूमिका' में उन्होंने लिखा था, "हिन्दी के प्रणम्य पाठक पर मुझे भरोसा है। प्रोफ़ेसर नाक-भौं चढ़ाते (चिढ़ाते) रहें, समीक्षक नाराज़ होते रहें, अपनी क़लम और कूँची न रुकी है, न रुकेगी"[1] उनकी यह क़लम और कूँची अंत तक नहीं रुकी।

वे 'आधुनिक कविता और चित्रकला का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन' करने में रुचि रखते थे और उन्होंने एक पुस्तक भी लिखी थी—*क्रिएटिव आर्ट्स एंड कम्युनिकेशन*।

आचार्य क्षेमचंद्र 'सुमन' ने उन्हें 'सकल कला निष्णात व्यक्तित्व' के रूप में स्मरण करते हुए लिखा है, "साहित्य के क्षेत्र में एक व्यक्तित्व ऐसा है, जिसे हम 'सकल कला निष्णात' के विरल विशेषण से अभिहित कर सकते हैं और वह है डॉ. प्रभाकर माचवे का। माचवे जी का नाम जब हमारे सामने आता है, 'तब हम विचित्र असमंजस में पड़ जाते हैं कि हम उन्हें किस 'कोटि' में स्थान दें? वे जहाँ एक 'बहुपठित' और 'बहुश्रुत' विचारक के रूप में हमारे समक्ष प्रकट होते हैं, वहाँ उन्हें प्रयोगवादी कवि, सजग समीक्षक, गंभीर निबंधकार, कुशल कथाकार, अध्ययनशील भाषाशास्त्री और प्रभाववादी चित्रकार के रूप में भी माना जाता है। माचवे जी के व्यक्तित्व की यह विशेषता है कि वे जिस धारा-प्रवाह शैली में निर्द्वन्द्व भाव से हिन्दी साहित्य के किसी भी पक्ष पर अपने 'दो टूक' विचार प्रकट करने की अद्भुत क्षमता रखते हैं, उसी सौन्दर्य से न केवल भारतीय भाषाओं के साहित्य पर साधकार लिख या बोल सकते हैं, प्रत्युत विख्याताओं की साहित्यिक उपलब्धियों के भी वे जीवंत 'कोश' सिद्ध होते हैं। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र का कदाचित् कोई ही ऐसा अभागा विषय होगा, जिसने इनकी 'अपूर्व मेधा' और 'त्वरा लेखनी' का संस्पर्श न प्राप्त किया हो।"

यह इस देश का दुर्भाग्य ही है कि माचवे जैसे 'सकल कला निष्णात व्यक्तित्व' का अभी तक उचित सम्मान नहीं हो सका! मराठीभाषियों ने उन्हें हिन्दी में लिखने के कारण ठुकरा दिया तो हिन्दीभाषियों में वे मराठी विद्वान होने के कारण दर-दर भटकते रहे। उनके उन्मुक्त चिन्तन, स्पष्ट लेखन और निर्भीक भाषण की प्रवृत्ति ने

1. सकल कला निष्णात व्यक्तित्व, क्षेमचंद्र सुमन, पृ. 305, *प्रभाकर माचवे : सौ दृष्टिकोण*

मित्र की जगह उनके दुश्मन अधिक बनाए। कोई उन्हें 'कम्युनिस्ट' कहकर खारिज करता रहा तो कोई कट्टर गाँधीवादी कहकर देखता रहा। किसी के लिए वे शुद्ध 'अराजकतावादी' रहे तो किसी के लिए मानवतावादी। पर वे किसी वाद विशेष से बँधे बग़ैर अकेले चलते रहे। 'जदि तोर डाक सूने केऊ ना आशे, तबे तूमि एकला चोलो रे।'

जिस मध्यप्रदेश में वे पैदा हुए, जिसका देश-विदेश में उन्होंने इतना नाम रौशन किया, जिसके मुख्यमंत्री, शिक्षामंत्री तक को उन्होंने पढ़ाया, उस मध्यप्रदेश में आज उनके नाम पर क्या है? उनके बादवाले कई छोटे-छोटे लेखकों के नाम पर पुरस्कार हैं, आसंदियाँ हैं, फ़ैलोशिप हैं, पर माचवे के नाम पर कुछ नहीं। क्यों? बड़े दुःखी हृदय से वे मध्यप्रदेश के बारे में बोलते-लिखते थे, "मैंने 1949 में मध्यप्रदेश छोड़ा। उस प्रदेश ने मुझे भुला दिया, उसका मुझे कोई दुःख नहीं। मैं अपने को किसी एक नगर या प्रदेश का नहीं मानता, सारे भारत का हूँ, बल्कि विश्व नागरिक हूँ।"[1]

इसी मध्यप्रदेश में इंदौर में *चौथा संसार* का संपादन करते हुए जब उनका देहांत हुआ तो मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री ने उनके शव को दिल्ली लाने के लिए विमान उपलब्ध कराया।

प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक डॉ. कैलाशचंद्र भाटिया ने अनेक रेखाचित्रों का संकलन तैयार किया था और उस पर 'शब्दचित्रकार डॉ. माचवे' शीर्षक से 'जनसाहित्य' के फ़रवरी 1969 अंक में लेख भी लिखा था। डॉ. भाटिया माचवे जी के चित्रकार रूप पर लिखते हैं कि "आज से 20 वर्ष पूर्व जब मैं हिन्दी रेखाचित्रकारों पर एक वृहद् पुस्तक के लिए सामग्री संकलन की तैयारी में संलग्न था तो डॉ. माचवे जी को भी इसमें सम्मिलित किया था। डॉ. माचवे साहित्य की अनगिनत विधाओं में सिद्धहस्त हैं, पर किसी व्यक्ति के चित्रांकन में उनकी गति अप्रतिम है। आप साहित्यिक रेखाचित्र के साथ तूलिका से भी चित्रांकन करने में सक्षम हैं।"

इतिहास के साथ वास्तुकला और मूर्तिकला का भी गहरा ज्ञान है माचवे जी को। डॉ. मारुतिनंदन पाठक (बोधगया) ने लिखा है कि "12 अप्रैल 87 को एक कोच बस से राजगिरी, नालंदा और पावापुरी देखने की व्यवस्था की गई। हमारे 50-60 छात्र भी साथ थे। वहाँ जाकर पता लगा कि इतिहास के साथ वास्तुकला और मूर्तिकला का भी गहरा ज्ञान है माचवे जी को। वह देखते ही क्षणभर में बता देते कि यह मूर्ति कब की है और यह शिल्प किस शैली का है तथा यह शिल्प भारत में और कहाँ-कहाँ है?"[2]

---

1. दुर्गाशर्मा को पत्र : स्कूली शहर में सम्मान
2. डॉ. मारुतिनंदन पाठक : सतरंगी रेखाओं की सादी तस्वीर, पृ. 184, *प्रभाकर माचवे : सौ दृष्टिकोण*

अपने पड़ोसी उपन्यासकार द्रोणवीर कोहली को उन्होंने अपनी कला के बारे में बताया था कि "हमारा फ्रेंच स्टाइल 'तूशे' है, ब्रश लगाया और हो गया। रूपरेखा पहले मस्तिष्क में डाल देते हैं।" डॉ. प्रभाकर माचवे ने उनके रेखाचित्र भी बनाए, जिन्हें वे अपना आदर्श मानते थे और उनके भी, जो उन्हें अपना आदर्श मानते थे। अपने मित्रों के रेखाचित्र भी उन्होंने बनाए और विरोधियों के भी। कलकत्ता के जानेमाने मूर्तिकार अशोक गुप्त उनके मित्र थे। उन्होंने उनसे भारतीय भाषा परिषद के संस्थापक सीताराम सेकसरिया की मूर्ति बनवाई, जो आज भी परिषद में घुसते ही लगी है। इसी मूर्तिकार ने माचवेजी की आवक्ष प्रतिमा बनाई है। जब अशोक गुप्त उनकी इस प्रतिमा को अंतिम रूप देने इंदौर आए तो माचवेजी ने गुप्तजी का भी रेखाचित्र बना दिया। उनके *चौथा संसार* अख़बार में, जिसका 73 वर्ष की पकी उम्र में वे संपादन कर रहे थे, एक युवा कलाकार सफ़दर शामी काम करते थे। उस युवा कलाकार का काम देखने वे उसके घर गए, घंटा भर रुके, काम देखकर सराहा और सुझाव भी दिए। यहाँ तक कि बाद में जब *नवनीत* में 'मध्यप्रदेश की कला' पर लेख लिखा तो उसमें भी इस युवा कलाकार का नाम लेकर उसका उत्साहवर्धन किया।

डॉ. माचवे का संबंध सिर्फ़ कला ही से नहीं रहा, बल्कि अनेक प्रसिद्ध कलाकारों से उनका दोस्ताना संबंध रहा। जब वे साहित्य अकादेमी में सचिव थे, तब प्रसिद्ध कवि चित्रकार गुलाम रसूल संतोष (अब स्वर्गीय) से उनकी गहरी मित्रता रही और उन्होंने साथ में काम भी किया। हुसैन और बेन्द्रे तो उनके बाल्यकाल के मित्र थे। जब बेन्द्रे की चित्र प्रदर्शनी जहाँगीर आर्ट गैलरी, मुंबई में लगी तो उन्होंने माचवे जी को व्यक्तिगत रूप से पत्र और फ़ोल्डर भेजा था। इसी तरह दिसंबर 1990 में हुसैन जब अपनी सालगिरह समारोह के सिलसिले में इंदौर आए तो स्वयं माचवे से मिलने उनके 63, वल्लभ नगरवाले घर गए थे, जबकि माचवेजी उस वक़्त घर पर नहीं थे।

अनुवादक माचवे

अनुवाद के आईने में उन्होंने संस्कृतियों की पहचान की। उन्होंने अपनी खिड़कियाँ सभी भाषाओं के लिए और दरवाज़े सभी नए विचारों और प्रभावों के लिए खुले रखे। किसी एक प्रदेश की भाषा पर नहीं, वरन् सब भाषाओं और बोलियों पर पर्याप्त ध्यान दिया। 1954 से साहित्य अकादेमी में कार्यरत होने पर उन्होंने विभिन्न प्रदेशों की यात्रा कर महत्त्वपूर्ण अनुवादकों, भाषाविदों को एक मंच पर लाने का कार्य किया। उन्होंने भारत की मूलभूत सांस्कृतिक एकता और भाषागत स्तरों की पहचान की। उन्होंने सिद्ध किया कि अनुवाद करना कोई गौण या द्वितीय काम नहीं है। अनुवाद करते समय जिन कठिनाइयों का सामना अनुवादक को करना पड़ता है, उनकी भी उन्होंने विस्तार से चर्चा की है। मूल से अनुवाद या किसी अन्य अनुवाद के माध्यम से अनुवाद में क्या दिक़्क़तें आती हैं? मूल लेखक की प्रारंभिक कृतियों से संबंधित प्रसंग अथवा संदर्भ का अनुवाद करते समय अनुवादक को क्या करना चाहिए? इन प्रश्नों पर उन्होंने विचार किया।

उन्होंने कई ग्रंथों के अनुवाद के अलावा *कल्पना, सरस्वती, माध्यम, प्रतीक, नया प्रतीक, हिमालय, अवंतिका, पाटल, ज्ञानोदय, समीक्षा, पूर्वग्रह, साक्षात्कार, समकालीन भारतीय साहित्य, संदर्भ भारती* और *अनुवाद* के लिए कई अनुवाद किए। उनकी अनूदिन ढेरों सामग्री यत्र-तत्र पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी है।

वे काव्यानुवाद करते समय काव्यानुराग, काव्यास्वाद और काव्यानंद प्रेक्षण तथा छंद पर विशेष बल देते थे। वे दोनों भाषाओं के द्विभाषी पाठकों का मन रखने में कुशल थे। वे दुभाषिया का काम भी आसानी से कर लेते थे। उनकी *सीखिए-पढ़िए पंद्रह भाषाएँ* पुस्तक से कई लोगों ने भाषाएँ सीखीं।

डॉ. प्रभाकर माचवे बहुभाषाविद तो थे ही, समर्पित अनुवादक भी थे। अनुवाद में शायद ही कोई विधा हो, जो उन्होंने छोड़ी हो। कविता, कहानी, निबंध, लेख, हाइकू के अलावा मोटे-मोटे उपन्यासों का अनुवाद वे अंत समय तक करते रहे। साहित्य अकादेमी के लिए 'नेहरू' की जीवनी का मोटा अनुवाद किया और चमन नाहल के पुरस्कृत उपन्यास *आजादी* का अनुवाद करते समय तो दिलचस्प अंश मुझे सुनाते भी जाते थे। *आज़ादी* का अनुवाद बहुत ही प्रवाहपूर्ण ढंग से उन्होंने किया है। कहीं भी

शिथिलता या बोझिलता नहीं आने दी है। मूलतः मराठीभाषी होते हुए भी उन्होंने मराठी और अंग्रेज़ी के अतिरिक्त हिन्दी में भी कई पुस्तकों का अनुवाद किया। डॉ. माचवे भारतीय अनुवाद परिषद के अध्यक्ष भी रहे। परिषद ने उनकी स्मृति में डॉ. प्रभाकर माचवे स्मृति व्याख्यान प्रारंभ किया है।

डॉ. माचवे ने विभिन्न भाषाओं के बीच सेतु का काम किया। विभिन्न धर्मों के अनुयायी लेखकों को निकट लाने में भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। विभिन्न संस्कृतियों को समझाने में उन्होंने सार्थक पहल की, सच्चे अर्थों में वे हिन्दी के अंतर्राष्ट्रीय साहित्यकार थे। भारत जैसे बहु-सांस्कृतिक देश में ऐसे लेखकों की निश्चय ही आज बहुत ज़रूरत है। भारतीय वाङ्मय को समझने में माचवे का लेखन जितनी मदद करता है, उतना किसी और का नहीं।

नई दिल्ली के विज्ञान भवन में आयोजित प्रथम विश्व अनुवादक सम्मेलन में उन्होंने अध्यक्षता की। 'साहित्य में अनुवाद' विषय पर इस अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में लगभग चालीस देशों के साढ़े तीन सौ से अधिक प्रतिनिधि आए थे। 'क्लासिक ग्रंथों का अनुवाद' पर माचवे ने अपना शोध-पत्र पढ़ा था। गद्य-अनुवाद की गोष्ठी की अध्यक्षता की।

डॉ. माचवे ने कम-से-कम एक हज़ार पृष्ठ अनुवाद हिन्दी, मराठी, अंग्रेज़ी तीनों भाषाओं में, भारत की आठ भाषाओं से और कुछ विदेशी भाषाओं से भी किए हैं, जो गत पचास वर्षों में पुस्तकाकार छप चुके हैं। साहित्य अकादेमी में अपने 21 वर्ष के कार्यकाल के दौरान ढेरों सामग्री अंग्रेज़ी से हिन्दी में अनूदित की। वे इस सारे कार्य को आत्म-शिक्षण की तरह लेते थे। वे अच्छी अनुवाद-संस्कृति के विकास के लिए ज़रूरी मानते थे कि सब भाषाओं से सब भाषाओं में अच्छे व्यवहारसुलभ कोश हों, हर विश्वविद्यालय में भाषा साहित्य अध्ययन के साथ 'अनुवाद' का एक पर्चा अनिवार्य हो, अनुवादक को उचित पारिश्रमिक दिया जाए और विदेशी भाषाएँ सीखने के लिए छात्रों को और प्रोत्साहन दिए जाएँ। वे मानते थे कि अनुवादक का महत्त्व आज के युग में और अधिक बढ़ता जा रहा है। उनका अनूदित एक 'हाइकू' नीचे दिया जा रहा है—बानगी के तौर पर—

इस शिद्दत की गर्मी में
तुम्हारी रंगीन छत्री
प्रिय, कितनी छोटी-सी!

डॉ. प्रभाकर माचवे की प्रमुख अनूदित कृतियों में मराठी की कथाएँ भी शामिल हैं। इसके अलावा भारत-सोवियत मैत्री के समय प्रकाशित *सहयात्रा* कोशग्रंथ के लिए भी कई अनुवाद उन्होंने किए और महत्त्वपूर्ण सामग्री जुटाई।

शोधकार्य-प्रोत्साहन

डॉ. प्रभाकर माचवे के साहित्य और जीवन के अनेक पहलुओं पर देश-विदेश के अनेक विश्वविद्यालयों में शोधकार्य हुए हैं और पुस्तकें लिखी गई हैं। वे शोधकार्य करनेवालों को पर्याप्त सहयोग देते थे, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की तरह उग्र होकर डाँटकर भगा नहीं देते थे। शोध-प्रवंध लिखने के लिए बाहर से जो कोई आता था, उसके ठहरने और भोजन की व्यवस्था अपने घर में ही करते थे। स्वभाव से अत्यंत विनम्र और मिलनसार होने के कारण डॉ. माचवे शोधार्थी से इतनी जल्दी घुल-मिल जाते थे कि शोधार्थी उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। यही कारण था कि शोधार्थी को अपनी जीवनयात्रा लिखाते-लिखाते अपने जीवन में संघर्षमय, कटु और व्यक्तिगत अनुभव भी उजागर करते चलते थे। देहांत के दिन भी वे अपनी शोधछात्रा को सहयोग कर रहे थे। उन्होंने उससे कहा था कि बिना संघर्ष के लेखन में वास्तविकता आ ही नहीं सकती। उन्होंने अपने लेखन में वास्तविकता लाने के लिए जीवन भर संघर्ष किया।

पश्चिम बंगाल की बाङ्ला भाषी हिन्दी शोध छात्रा ने जब उन पर शोध करने का बीड़ा उठाया और उन पर हुए शोध कार्यों के बारे में जानकारी माँगी तो उन्होंने 26 मार्च 86 के अपने पत्र में लिखा, "आपने पूछा था कि मुझ पर क्या शोध कार्य हुए या हो रहे हैं। कलकत्ता में टीना हाज़रा को जादवपुर यूनिवर्सिटी में 'भारत की पाँच भाषाओं के समकालीन उपन्यासों पर गाँधी के प्रभाव' (हिन्दी, मराठी, गुजराती, बाङ्ला तथा अंग्रेज़ी) पर तुलनात्मक अध्ययन में मैंने काफ़ी सहायता की। श्रीमती वासंती वैद्य को भी व्यक्तित्व और कृतित्व पर शोध करने के लिए मुंबई विद्यापीठ से तीन वर्ष की शिष्य-वृत्ति मिली। पता नहीं थीसिस पूरा किया या नहीं। तराना (मध्यप्रदेश) के डॉ. रणधीर नागर ने मेरे लेखन पर थीसिस लिखकर विक्रम विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. ले भी ली। मैंने वह कृति देखी नहीं। हिमाचल विश्वविद्यालय के एक शोध छात्र ने मेरी कविताओं पर एम. फ़िल. की और वह पुस्तक छपी है। वहीं की श्रीमती डॉ. कृष्णा रैना ने मेरे उपन्यासों पर एक पुस्तक लिखी है, जो प्रकाशित हो चुकी है। देहरादून की एक छात्रा 'अज्ञेय और माचवे के उपन्यासों में समकालीन चेतना' पर काम कर रही है। श्रीमती सुचेता वेलणकर, नागपुर विश्वविद्यालय में मेरे

समग्र साहित्य पर शोध कर रही है। एक अन्य मराठी लड़की ने मेरी कविता पर एम. फ़िल का शोध आलेख उसी विश्वविद्यालय में लिखा। डॉ. सुकीर्ति गुप्ता ने हिन्दी लघु-उपन्यासों पर लिखा है, उसमें मेरे *परन्तु* उपन्यास पर भी लिखा है। डॉ. श्याम परमार ने भीष्म साहनी संपादित आधुनिक हिन्दी उपन्यास समीक्षा संग्रह में मेरे उपन्यास *जो* पर लिखा। यह सब होने पर भी मुझे लगता है कि मैं एक विषय के नाते अपूर्ण हूँ, अधूरा हूँ। फिर आलोचक उन उपन्यासकारों की रचना चिन्ताओं को 'अधूरे साक्षात्कार' ही कहते हैं। कुल मिलाकर हम 'आधे अधूरे' युग और समय में जी रहे हैं।"

आगे व्यंग्य में शुभकामना लिखी, "जल्दी से आपको 'डॉक्टरेट' मिले। वैसे डॉक्टर बनने से पहले पेशंट बहुत बनना होता है। आज के युग में स्वयं ही रोगी और स्वयं ही चिकित्सक होना पड़ता है।" (28 जून 82 का पत्र)

वे नवयुवकों को निरंतर लिखने के लिए प्रेरित करते रहते थे। वे नवयुवकों से कहा करते थे कि यदि मौलिक न लिख सको तो विश्व के महान लेखकों की कृतियों का अनुवाद करो। महान साहित्यकारों की अक्षयपूँजी को अनुवाद द्वारा आत्मसात करो। यदि अनुवाद में रुचि न बने तो संपादन करो, विद्वानों के बिखरे विचारों की माला बनाओ। यदि कुछ न कर सको तो निराश होकर मत बैठो, अपने घर-परिवार तथा पास-पड़ोस की घटनाओं को शब्द दो। शब्द देने पर छोटी-छोटी बातें भी घटना बनकर बोलेंगी। इस प्रकार के लेखन को माचवे 'क़लम की कसरत' कहते थे। माचवेजी ने अपनी प्रेरक शक्ति से कई दर्जन लेखक, कवि, व्यंग्यकार और साहित्यानुरागी दर्जनों भारतीय भाषाओं में बनाए थे। वे प्रायः कहा करते थे कि यदि थक जाओ तो स्वयं विश्राम कर लो, किन्तु क़लम को कभी विश्राम न करने दो। इसलिए जीवन के अंतिम क्षणों तक वे क़लम को मज़बूती से पकड़े रहे और स्वयं विश्राम करने चिरनिद्रा में चले गए। रवीन्द्रनाथ के शब्दों में कहते हुए :

"आमि सबाई प्रणाम कोरिया जाई
आमि सबार प्रसाद बानी चाई।"

चुनी हुई रचनाएँ

तार सप्तक में प्रकाशित कविताएँ

वह एक

वह एक
मैला-सा कुर्ता पहने बेच रहा अख़बारः
'अरजुन, स्वराज, जन्मभूमि, आज,
अधिकार—'
दो पैसे या कि चार-चार।
कहता है वह पुकार
आज चीन-जापान लड़ाई,
कल हिटलर की चढ़ाई,
और परसों श्री गाँधी का उपवास
वह क्या समझता है राजनीति?
ख़ाक-धूल!
उसे क्या पता है यह फैला कहाँ तक है
मैला जीवन-दुकूल!
उसको न परवाह काँगरेस नैया की
पतवार—
वाम-पक्ष पै है या हराम-पक्ष पै है,
वह जानता है माहवार
तनखा साढ़े तीन कल्दार!
उसको हैं जिन्ना बोस,
हिटलर, पटेल, घोष,
ये सब बस निरे नाम
उसका तो फ़क़त काम

चिल्लाना बार-बार
तीन मरे, दस घायल—
दंगा, बम फटे या कल मर गए
फलाँ-फलाँ।
यों ही चला करता है दुनिया का दौरान
उसको न रंज़ो-ग़म
उसको तो एक भान—
वेचना ये समाचार—
चाहें सम हो कि विपम!
वह एक मशीन
जिसमें इस दुनिया के गोले के प्रत्येक
कोने से आती जो ख़बरें हैं रंगीन
श्री-हीन,
सब वनके अक्षर ढल जाती हैं,
छपकर के जो निकलीं
लक्ष-लक्ष चक्षुओं से निगली गईं
वे और
विक भी गईं वे गली-गली में।
कि चौवीस घंटों वाद पुनः बसी।
यह खड़-खड़-खड़ दैनिक की
'रोटरी' की प्यास बड़ी संगीन...
वह एक!

निम्न मध्यवर्ग

नोन-तेल-लकड़ी की फ़िक्र में लगे
घुन-से,
मकड़ी के जाले-से,
कोल्हू के वैल-से।
मकाँ नहीं रहने को, फिर भी ये घुन-से
ग़ंदे अँधियारे और वदवू-भरे,
दड़वों में जनते हैं वच्चे।
शहर की तमाम नालियों की जो
सड़ाँध है,
न घुस पाती इनके दिमाग़ में,
न नथुनों में।
पुर्जों-से बेजान,
वीस-बीस पच्चीस
माहवार रुपयों पर जीते हैं।
इनके है कोई नहीं विश्वास अथवा
मत।
जैसा कहा सब ने, त्यों,
इनने भी गर्दन हिलाई,
पुनः कर्मरत।
इनके यों जीने में कौन-सा बचा
मतलब?
आशा कौन-सी है इन्हें,
फिर भी ये जीते हैं,
उच्च-मध्यवर्ग की नक़ल करते

बोल-चाल, रहन-सहन, कपड़ों में,
रस्मों में।
लहू नहीं, गोमूत्र बहता इन जिस्मों में,
इसी से सदा डरते क्रांति में नवीनता से
घबराते।
पीटते लकीर।
औ' मुहल्ले में इनके जो आता है
सदा देने बुड्ढा फ़क़ीर,
वह भी तो जानता है
इनकी इस दासत्व-जर्जरित मनसा की
नस-नस, सो
कहता है—'काम में तरक़्क़ी हो,
ओहदा बढ़े,
कमानेवालों की ख़ैर रहे,
औलाद बढ़ती रहे,
मिल जाय पाव भर आटा',
जबकि इनका ही
इस विराट आर्थिक विपन्नता की
चक्की में पिस-पिसकर
बन रहा महीन ख़ुद आटा है।

... कुहरे में

किरन कहीं पाई कुहरे में?
तुम हो कौन छिपे गहरे में?
पाया नहीं लाख चेहरों में
छानी खाक गाँव-शहरों में
चलते जल में या ठहरे में?
पुल लाँघे कितने नहरों पर
क़ैद न थी तालों, पहरों पर
गूँगी बातें सुनी बहरे ने।
कबिरा लहर-बुंद मगहर की
मीरा बनती स्याम ज़हर पी
किरन कहीं पाई कुहरे में?

('जहाँ शब्द है' से)

लू

झुलसी–भू
पर्णहीन तरु
वर्णहीन मरु
यात्रा हो ली शुरू
कहाँ बचा मैं, कहाँ बची तू
केवल लू...।

मित्र की स्मृति में

उसका जाना एक अंधड़ था
जो आक्षितिज सबको झंझोड़ गया
पुराने पत्ते पीले उड़े
देखते रहे खड़े-खड़े
टटोलते लगे रीते घड़े
एक नई दुनिया बनाने की मेहनत में
वह अपने आपको तोड़ गया
मेरा पुराना जैसे दर्द जगा
चला गया मेरा सगा
मुझे सिर्फ़ इतना लगा
वह मुझे और अकेला बनाकर
छोड़ गया
साहित्य और कविता का जलता हुआ लौह-चक्र
मोड़ गया।

(*हस्ताक्षर*—44, मुक्तिबोध विशेषांक,
अक्टूबर 1965)

1. डॉ. प्रभाकर माचवे, स्व. गजानन माधव मुक्तिबोध के अभिन्न मित्र एवं सहयोगी रहे हैं, प्रस्तुत कविता न केवल स्वर्गीय कवि को श्रद्धांजलि है, वरन् उनके अजेय व्यक्तित्व का दिग्दर्शन भी कराती है।

कीर्केगार्द की समाधि पर

(पहला प्रारूप)

मृत्यु
अस्तित्व
ईश्वर
शंकापुत्र
अथवा पर्याय मात्र
जीवन
अस्तित्व
पाप
श्रद्धा-सूत्र
अन्वय व्यतिरेक
शास्त्र
नियति—आत्मस्वीकृति
पूर्ण विराम

(दूसरा प्रारूप)

सर्वास्ति
शून्य सब...नहीं
सिहरन निजता के पाप के सामने
(उदास, उपेक्षित तुरबत, कुछ सैलानी)
अच्छाई सुंदरता का नकार
सच्चाई अच्छाई का नकार
और तीनों आयाम मिलकर—स्वीकार?
मैं और तुम, अथवा मैं या तुम

सोरेन्-मौत? कनफ़ेशन
'किम कर्म किमकमेति'...'टु बी ऑर नॉट टु बी?'
पग-पग पर जीवन में मौत से भी बुरी मौत
डग-डग पर मौत में जीवन से भी बड़ा जीवन
और हम कवि से आशा माँगते हैं
जैसे डॉक्टर से टॉनिक?
पर भीतर तो
'सब्बम् क्षणिकम्' का
'सब्बा संखारा अनिता' का
कीड़ा है
कुतर गया वह डंठल, कुतर गया वह जड़ें
पड़ा कलियों पर पाला
और हम चाहते हैं दर्शन धीरज दिलानेवाला,
वंचना, व्यंजना, पर्यायवाची हैं
यह समाधि साक्षी है ।

अपने मन से

हुए प्रभाकर अब तुम सत्तर
मियाँ दुकान उठा लो अपनी
और समेटो काग़ज़-पत्तर
वहुत अकेले लड़े, पुकारा
अँधियारे को भी ललकारा
बहुत अँधेरा-सिया सँभाला
तार-तार अब अस्तर
जंगल में गाते-चिल्लाते
टूटे वहुत वने जो नाते
वहुत बहे ऊवड़-खावड़ में
पत्थर रहते पत्थर
नहीं जुटाए चेला-चाटी
जो कि चलाते गुरु-परिपाटी
दो डग पीछे नीचे होते
एक कमद अग्रिम व वृहत्तर

बोल साँबा ऽऽ!!

देश में क्या हो रहा है, बाबा
रोज़ का खून-ख़राबा
शर्म नहीं आई काशी, काम नहीं आया क़ाबा
ट्रक पर ट्रक, बकासुर
किस पर करें शक, सब टकासुर
किसमें है सोना, किसमें हेरोइन
वही रातरात सफ़र, वही देसी ठेका
वर्श में सब बराबर   रोज़ की नई हीरोइन,
लिट्टे हो या बब्बर   वही खाट, वही ढाबा!

कोऽहम्?

देख रहे हैं लोग मुझे
हैं कितने-कितने कोण
किन्तु जान पाया न अभी तक
मैं यह 'मैं' है कौन?
जाकी रही भावना जैसी
देखा उसने वैसे
पर हम तो जो मूर्ति गढ़ी थी
हैं जैसे के तैसे
नाना मुख नाना बातें हैं
नाना आँखें नाना दृष्टि
हम तो अब केवल 'नाना' हैं
नाती-पोता हैं नव-सृष्टि...
'अर्थ' बदलता 'शब्द'...मौन...
प्रश्न बना रहता : मैं कौन?

ऋषि रोरिक के चित्र देखकर

कितना भव्य हिमालय
उससे भी भव्यतर तेरे ये बड़े चित्र
तुम हो जग-मित्र,
तेरा युग-युग तक गाएँगे यश-चरित्र।
भव्यतम तेरी इच्छाएँ, आदर्श सुपवित्र
'टूटता हुआ तारा'
बालक के जन्म की ख़बर लाए
मैत्रेय बुद्ध और
कितनी कितनी श्रृंग-शृंखला में
ऋषिवर, तुम विश्वशांति-
प्रचारक थे, नेहरू के परम मित्र
कितने भव्य, कितने विराट तेरे चित्र!
तुम कवि भी थे, नहीं रह सके
भौतिकवादी उस हिंसाप्रिय हवा में
आकर यहाँ भारत में
बुद्ध और ईसा का आँचल थामे
तुम रँगते गए कैनवास पर कैनवास
हिमालय की गोदी में बस गए
लेते हुए स्वाधीन मुक्त श्वास
पितृ देश में नहीं वापस गए
रोरिक, आज नाम सुन
तुम्हारा, नंवता है मेरा माथा
तुमने ही गाई रेखा-रंगों में
दो देशों की स्नेह-गाथा!

क्रांति

हम जवान थे
रूस का अर्थ था हमारे लिए
लाल क्रांति
वय मान से
अब उसका अर्थ हो गया
विश्व-शांति
क्या वह भ्रांति थी?
या यह भ्रांति है?
नहीं नहीं, एक राह, एक चाह
एक ही उत्साह
आह और वाह
भीतर की ऊष्मा और बाहर का दाह
राह की मंज़िल और विश्रांति!
यह नहीं क्रांति
उस पांथ मानव की विचारों की
उत्क्रांति
क्रांति सिर्फ़ रोटी नहीं,
रोज़गार, कपड़ा मकान नहीं
शांति सिर्फ़ ऊपरी या खोटी नहीं
शांति सिर्फ़ पूजा और ध्यान नहीं
जब तक इस मानव-परिवार के सब सदस्य
होते नहीं सभ्य, सभी छोड़कर आलस्य
भेदभाव भूलकर होते नहीं एकाकार
क्रांति और शाति का व्यर्थ शब्द-व्यापार

मण्डेला

(भारत यात्रा पर)

'म' से मुझे तीन महामानव
याद आते हैं इस वेला
महात्मा गाँधी,
मार्टिन लूथर किंग
मंडेला!
सब मनुष्य-'मन'कों में पिरोया है
एक डोरा
क्या काला, क्या गोरा?
बादल के दोनों रंग
आसमान उजला, अँधेरा, श्वेत श्याम है
सब संग-संग
यहाँ रोमा या रनबीर, रहीम या राम हैं।
गंगा है धवल, जमुना काली
अमावस भी है यहाँ रात तारों वाली
कोई नहीं ख़ाली
हर आँख में है कोये सफ़ेद, कृष्ण पुतली
काला कोयला भी जलकर सफ़ेद होता है
इस सफ़ेद काग़ज़ पर अक्षर हैं काले
दिन और रात के, संध्या प्रभात के
चलते ही रहते हैं छाया-प्रकाश वाले तमिस्रा-उजाले
इसलिए आज सब एक स्वर बोलो
दासता के बंधन युगों के अब खोलो
नीग्रो हों, द्राविड़ हों, अफ्रीकावासी हों
सबको एक न्याय की तराजू पर तौलो
आन जुटे सब लोगों का आनंद-मेला
मण्डेला! मण्डेला!
तुमने सत्ताईस बरस तक कारावास झेला
तेरा दुःख नहीं अकेला-अब प्रकाश फैला।

विदिशा

सोलह महाजनपदों में एक तुम दशार्ण
आज सिर्फ़ छोटी और गंदी
मालवी गेहूँ की मंडी

पुराणों की भद्रावती
महाबलिस्थान अल् बेरूनी की
आज कितनी बेरंग, वि–श्री और फीकी
एक ओर दशान या धसाण नदी
बह गया किनारे का भैलस्वामी मंदिर
चेदियों का बनवाया सूर्यमंदिर आला
आज एक नाला

छोटा-सा शिलालेख
शेष एक
शत्रुघ्न ने अपने पुत्र शत्रुघाती को
बनाया यहाँ राज्यपाल
लिख गए कालिदास रघुवंश में
मेघ को भेजा था इस ओर

कर्णपुत्र और भीम युद्ध किया निर्देशित
कृष्ण ने लोहागिरि शृंग से
युवनाश्व पाण्डवों के पक्ष में लड़ा था

वह सब यश कहाँ गया
रह गईं कहानियाँ

वैशाली नृप करंधम
हैहय कुल कन्या के स्वयंवर
निज पुत्र आविक्षित-हार कर
आया था सेना ले, राजा को मारकर
मुक्त किया पुत्र को
सगर और यादव और मौर्य सब चले गए
बची है अशोक की विवाह-कथा
श्रेष्ठी सुता वेदिस महादेवी से विदिशा में
हुए पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा
विदिशा के सेठों ने बौद्धों को, जैनों को
बड़े बड़े दान दिए
गया वह ज़माना
अब तो बनियों का रहा भरता ख़ज़ाना

अंतिम मौर्य बृहद्रथ वधकर
आए पुष्यमित्र शुंग
अश्वमेध, राजसूय यज्ञ किए
गोनार्द गाँव में रहते थे पतंजली
भागभद्र शुंग के समय आए यवन
हेलियोडोरस
वैष्णव बने, गारुड़ध्वज स्थापित किया
अब पत्थर का टुकड़ा पड़ा—'खंभा—बाबा'
सारे कीर्ति-चिह्न
क्यों हो जाते छिन्न-भिन्न?

दिमित्रियस आए, बने भागवत पंथी
पर भारशिव नाग आए वैष्णवों को उखाड़ा
आज उदयगिरि में हैं केवल शेषशायी

और वह वराहमूर्ति जिसे कर स्तुति-लक्ष्य
ग्रीक वीणा लिए किन्नर-यक्ष

गुप्त आए, और हुआ इतिहास सारा लुप्त
इल्तुतमिश, खिलज़ी सिपहसालार आए
मलिक काफ़ूर, बहादुर शाह
कई युद्ध, वास्तु सब ध्वस्त, नष्ट
राणोजी सिन्धिया की अमीरख़ाँ चीतू से
घमासान लड़ाई...

आज उस उदासीन, सुनसान, सोये से
क़स्बाई नगर में कोई नहीं आहट
मिट्टी में मिल गई सामंती आन-बान
अब तो बस बजरिया, ढिबरियाँ, साइकलें
छोटे-छोटे व्यापारी, बाबू क्लर्क, मास्टर
टूट गया संगीत. भूल गए तान, गान
लगे हुए भद्दे मसाला फ़िल्म पोस्टर

कौन थी दिशा, ओ विदिशा तुम्हारी?
मालवे के उक्राइन, अतीत कौन जाने
अब तो भविष्य के भी स्वप्न मनमाने
कुतुबनुमा किसके हैं हाथ में, बिचारी
जनता तो दिशा-हारा
देखती है आकाश
सूखा ही सूखा, सब ओर ह्रास-नाश
दिक्पाल स्वयं हाय हाय, शुंग, मौर्य, यादव...
ख़ानाजंगी...प्रजा है, दुखारी...

उज्जयिनी

उज्जयिनी अवंतिका अपापा
महाकाल नगरी

फलाँ बोहरे के घर पर छापा
अमुक एमेले ने खो दिया आपा
वो चोरी की बड़ी और वो रस्ता नापा
किसी को इतने सब अन्यायों का नहीं स्यापा
बस अपने भैरों पर चढ़ता रहे पुजापा
'क्षिप्रा का जल-स्तर गिरा!' यहाँ तो सरापा
'हपापा का माल है गपापा'

महाश्वेता गायन जब करती थी सांध्यारती वेलाएँ
बाणभट्ट गदगद हो रूपाख्यान–गुण थामे
चार-चार पृष्ठों के वाक्य रच जाते थे खेला में

'गुरु, अब के श्राद्ध भोजन का निमंत्रण
जजमान ने नहीं भेजा? कांई हुयो?'

'मास्टर शादीलाल ने गजानन को डाँटा,
बापड़ो वठीनेई रो पड़्यो
'हृदय' का नाम भी न कोई वहाँ जाने
'सू-ना-व्यास' सूना घर पड़ा है पिछाने

बड़े गणेशजी के मूषक की आँखें
लड्डू के कटोरे पर ठिठकी हैं, देख जाके!
'हर सिद्धि?' सिद्धसाधकों की पूँजी
सबने संतोषी माँ नई-नई पूजी!

मंगलनाथ घाट पर कभी कालिदास गाते
आजकल वहाँ सिर्फ़ सैलानी जाते

'हारांस्तारां'...'लोला पांगां'...भूलो वे बातें
क्षिप्रा के तट पर वह चटुलवात घातें

अव तो वहाँ सिनेमाघर, क़स्बाई बज़ार
शोर, कुंकू, कंघी, अगरवत्तियों के अंबार
नक़ली गोटे किनारी कपड़ों का व्यापार
कटपीस, सिले हुए सस्ते उठा लो पचास के चार-चार

'मालविका'? माल बिका, मालिनियाँ होशियार?
भूलो वे चंपक और कर्णिकार, अब गेंदे सदाबहार
आए हैं आप यहाँ देखने जो मालवे के मैदान?
अव यहाँ नए ईंटगारे के अडमसूड ये मकान
टेढ़े तिरछे लोहे कंकरीट के ये मचान बिना प्लान
छोटी-छोटी बातें करनेवाले कई पत्रकार, कवि महान

सांदीपनी? भूलो जी, वे गुरुकुल, वे आश्रम,

अव तो यहाँ विद्या भी बीड़ी या माचिस-सी
सस्ती लगा दी, घर-घर में ट्यूशन की घिसघिस-सी
विक्रम कीर्ति मन्दिर और वराहमिहिर अकादमी
बड़े-बड़े नाम-पट्ट, लग गए हैं काम पर कुछ आदमी
पुराने पुजारी पड़े पुरोहित बदले झटपट
वृत्ति तो रही वही लूट पाट, छीन-झपट
गर्दभिल्ल आए, नए विट-चेट, या शकार
बैताल विक्रम से प्रश्न पूछा, उलटा टँगा डाल

'आकाशे तारकं लिंगं पाताले हाटकेश्वरम्
मृत्युलोके महाकालं लिंगत्रय नमोस्तु ते'

अब न वह महाकाल वन ही शेष
सप्तपुरी में से वह मोक्षदात्री निश्शेष
सती की यहाँ कोहनी पड़ी थी वह शक्तिपीठ
अब तो यहाँ चौंसठ योगिनी की नहीं बची ईंट
'यहाँ रोज़ चार सेर घी के दीप जलाओ'
आलमगीर औरंगज़ेब फ़रमान दे गए
कहाँ वह घी, कैसा चिताभस्म ले आओ
दूषण जो राक्षस थे वही फिर उभरे
गए वे अशोक, वे विक्रम, वे चंद्रगुप्त
वैदिक, बौद्ध, जैन पंडितों की वह सरणि लुप्त
भवभूति, भारवि व भर्तृहरि निरे नाम
जयसिंह वेधशाला...भूलो भूलो ललाम

'सौधोत्संगप्रणय विमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः'

अब तो खुली नालियाँ हैं, धूल और धक्कड़ हैं
दुर्गन्धित बस अड्डा, सस्ती चाय सेव की दुकानें,
निठल्ले किरानियों के अड्डे, कहीं सट्टाबाज़,
सराफे में, तमाकू अफ़ीम के हैं गोदाम, दवासाज़,
मिल के मजूर और सरकारी नौकर, कारख़ाने
पान की पीक से रंगे कूड़ा-भरे नुक्कड़ हैं
कहा होगा 'अवन्तिक्षेत्रमाहारम्य' सर्ग में
स्कंद के पुराण में कि जो कोई कृमि-पतंग
कीटक भी मरता है यहाँ, रुद्र-अनुचर अभंग
बन जाता अमर और रहता है स्वर्ग में

बम-बम बम महाकाल
हम हम हम महा-जाल
कम कम कम महाव्याल

भोजपुर

वाक्पतिराज पुंज के अनुज सिन्धुराज के पुत्र
भोज परमार ने नौ सौ वर्ष पहले फैलाया निजक्षेत्र
कैलाश पर्वत से मलयगिरिपर्यन्त दिक्‌विजयी
धारा में भोजशाला, राजमार्तण्ड महल, सरस्वती
पाठशाला, जयस्तंभ, कितने भव्य देवालय बनवाए
केदार, रामेश्वर, सोमनाथ, सुंडीर, कपटेश्वर
महाकाल, अनल, रुद्र, विग्रह किए स्थापित
तालाब खुदवाये भोपाल में आला
सुल्तान होशंगशाह ने तबाह कर डाला.

कश्मीरी तमोली पद्‌मराज ने सोना भेजा
भोज को! उसने उलटे और दान दिया—ले जा!
कश्मीर में ही एक पापसूदन कुंड बना!
उसके ही पानी से भोज हस्तमुखप्रक्षालन करता नित
काश्मीर से धारानगरी तक पानी नित
भेजता रहा कहावत चल पड़ी कहाँ राजा भोज कहाँ गँगुआ तेली!
भोज के राज में लोहा और ताँबा सब शेष हुआ
उदयपुर शिलालेख कहता है :
'अत्र श्री भोजराजस्य द्वयमेव सुदुर्लभम्
शत्रूनां शासनैर्लोह ताम्रं शासन पत्रकैः'

दानी भोजराज की कहानी क्या कहिए
कवि के हर अक्षर पर लक्ष लक्ष मुद्राएँ स्वर्ण की
नवरत्न जुटाए, सिर्फ़ रह गईं ऐसी दंतकथाएँ
कालिदास रूठ गए तो भेस बदलकर जंगल में

राजा भोज पहुँचे—कहा भोज तो मर गया
कालिदास बोले—
अद्य धारा निराधारा निरालंबा सरस्वती
पंडिताः खंडिताः सर्वे भोजराजे दिवंगते

उसी भोजराज ने बनाया एक वृहदाकार
शिवमंदिर कालियासोत नदी किनारे
काटी गाँव में छोटी टेकरी पर
प्रवेश द्वार दस पुरुष ऊँचा, तीन पुरुष चौड़ा
चामर धारेणियाँ केवल बचीं रक्तप्रस्तर में
काल ने नहीं कुछ भी और वहाँ छोड़ा
डेढ़ पुरुष ऊँचा शिवलिंग भी तोड़ा
अब केवल गर्भगृह नीचे बहुत उतरकर
उस भव्यता की, उदात्तता की कल्पना
करते रहो मन में. मिथकों की अल्पना
गूँथो और सोचो थे भोज बड़े ज्ञानी
इतने ग्रंथ लिखे काव्य-शास्त्री भरी वाणी
ज्योतिष और वैद्यक और कोश और व्याकरण
संगीत, अश्वशास्त्र, शिल्पशास्त्र, दर्शन
जीवन का कोई भी अनजाना नहीं कोना
बचने दिया
फिर भी जो होना था वही हो कर रहा

नौ सदियाँ बीत गईं. भोज सिर्फ़ कथा है अहरहा
बहती है वेगवती, बहती है नर्मदा
बहती है शिप्रा, गंभीरा और जमघड़ा
चंबल और चोरल और विन्ध्या और सतपुड़ा
गूँजते हैं झरनों में, भूल गए सब भोज
शेष रहा केवल कालिदास का प्रसाद ओज
उसकी ही उपमा अब भी निरुपमा

सोना दिया, गया, लूट लिया वह बात रही
भोज ने कालिदास से सिर्फ़ इतना कहा :
'मेरे मरण पर आप एक लिखो छंद'
कालिदास क्रुद्ध हुए चले गए वन में
निज श्लोक फिर से सुधारा, जब पहचाना :
अद्य धारा सदा धारा सदालंबा सरस्वती
पंडिताः मंडिताः सर्वे भोज राजे भुवंगते

कितना ही वदलें भेस, न छिप सके कालिदास
भोज भी न छिप सके न छिप सके वे विलास
अब तो एक टूटा हुआ पत्थर और
हवाएँ उदास मँडरातीं आसपास
जंगल में अट्टहास।

मिसीसिपी

(बोल मछिन्दर, गोपीचंदर)
कितनी-कितनी रेता छानी
कितनी नदियाँ, कितना पानी
मिसीसिपी की प्रायर-दुं-शीन में
जहाँ देखी अनढँकी जवानी
देखा मैंने मंद टेम्स के मुँह पर कुहरा
जैसे बुरका (वर्दी)

देखी मैंने तेल-सनी गंदी काली
शिकागो नदी
देखी मैंने निर्मूल धूप औ' हरियाली पहने
हँसती ग्लोम्मा (रानी)
देखी मैंने राइन की नखनीली धारा
देखा मैंने नील नदी का
विशाल स्वागतशील किनारा
बहुत देश घूमे, कितने ही बजरे, नाव, पोत
औ' स्टीमर
यह अतलांत, प्रशांत और भू-मध्य–
समुद्र तरंगों पर तिर
क्षितिज कह देखे, पानी के रंग भी कई;
जामुनी, हरे, गुलामी, भूरे
फ़ालसई, कत्थई
यह पानी स्वर्गीय, यही पानी की हूरें
यह पानी पाताललोक की नाग–मत्स्य कन्याएँ
यक्ष और विद्याधर पूरे

यह पानी के चौक अधूरे
फिर आए मन में कितने घरवाले नद उभर
कई मालव-सरिताएँ, चोरल, कालीसिन्ध
बेतवा, शिप्रा, गंगा,
महानदी, कावेरी-कृष्णा, भीमा, घग्घर,
रेवा...
अब सब रेता
पानी के परदे पर हम सब हैं अभिनेता
बेमानी
(मच्छी मच्छी कित्ता पानी?)

फल्गु

यहाँ किया दशरथ का श्राद्ध सती सीता ने
गौ, केतकी, नदी को साक्ष्य रखा
नदी तो गई मुकर
सीता ने शाप दिया
गौ का मुख अपवित्र, केतकी ना पूजा में
सदा रहेगी फल्गु नदी से बस रेती ही रेत
अब यहाँ सम्भावनाएँ भी सूखी हैं
सामूहिक पिण्ड-दान में बैठे गँवई
दयनीय पुरोहितशाही

कैसा धर्मकार्य
सब पुरुष सिर मुँडे आर्य-अनार्य
देखने आए बोधगया में
बोधिवृक्ष, जो श्रीलंका से था लाया गया
नदी यहाँ कुछ देती नहीं, न होती खेती
बस रेती ही रेती
पानी के कष्ट से दुखारी प्रजा कहे
यह 'राम-राज्य?'
'नेति नेति'
या यही है नियति
सब नदियाँ बालू
सब आश्वासन चालू।

कहानी

मदाम वू

दार्जिलिंग में ढलानवाले एक रास्ते पर एक छोटी-सी दुकान थी, जिस पर नाम-पट्ट लगा था : 'एंटीक्विटीज' (पुरानी क़ीमती चीज़ें)। जब चित्रकार अंतर्यामी रे वहाँ की पर्वत-श्री से आकर्षित होकर कुछ दिनों के लिए वहीं ठहर गया तो एक दिन तिपहरी में वह इस दुकान की कलात्मक सज्जा से खिंचकर अंदर पहुँचा। बड़ा ही मनोरंजक वातावरण वहाँ पर था। एक भारी मख़मल कत्थई परदे के भीतर झाँककर देखें तो सामने पीतल की रंगवाली ध्यानी मुद्रा में बैठी लकड़ी की छह फुटी बुद्ध-मूर्ति, और उनके पीछे कई जालीदार फ़ानूस—टेबल लैम्प की शक्ल में, सामने नेपाल से लाई गई कई ब्रौंज-मूर्तियाँ वज्रतारा की और महाचीन-चारा की; अमोघवज्र और लुटुपा के तिब्बती पट-चित्र, मिंग घराने के ऊँचे चीनी नक़्क़ाशीवाले वाज़ और जेड के घोड़े! पर क़दम रखते ही पैरों को गुदगुदे ग़लीचे जैसे फ़र्श पर काशगर की क़सीदाकारी और कश्मीर के नमदे नज़र आए। दुकान एक पूरा छोटा-मोटा म्यूज़ियम थी। अंतर्यामी एक-एक चीज़ देखता रह गया और उसकी नफ़ासत से इतना आकृष्ट हुआ कि ठिठक-ठिठककर एक-एक चीज़ को देखने लगा। दाहिनी दीवार में खिड़की के पास एक चीनी शैली में लैण्डस्केप लगा हुआ था। उसमें रेशम पर अंडे के सफ़ेद तरल अंश में मिलाए रंगों से ऐसा अच्छा, महीन और नाजुक अंकन हुआ था कि अंतर्यामी उसे देखता ही रह गया। वह भूल गया कि वह दार्जिलिंग की एक दुकान में है। इतने सुंदर पहाड़ झरने और बाँसों के फूल और मछुआरों की नावें—रेखाओं से कितना सुझाया जा सकता था, कितना कुछ तरल और अमूर्त वहाँ इंद्रियगम्य हो गया था। अंतर्यामी देखता रहा और उसके मन के भीतर कहीं जैसे कुछ जमा हुआ सिवार हटकर पानी का सोता खिलखिलाकर बह पड़ा।

एक सुंदर भूरी स्यामी बिल्ली जिसकी आँखें कंजी थीं और कान और पूँछ गहरी ऊदी, कहीं से चुपके से कूद पड़ी और अंतर्यामी की कामदार जूतियों के पास आकर गुर्राती हुई बैठ गई जैसे बड़ी पूर्वपरिचिता हो। दुकान में कोई नहीं था। अंदर के दरवाज़े पर एक वैसा ही पुराना परदा था, जिस पर तिब्बती पट-चित्र जैसे टँगे हुए थे। अंतर्यामी रे ऐसी दुकान दार्जिलिंग में देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने एक छोटी-सी पीतल की घंटी उठाई और उसे बजाने का यत्न किया—

इस आशा से कि शायद कोई दुकान में से भीतर से बाहर आए।

आहट सुनकर परदा हिला और एक ठिगनी-सी स्थूलकाय बादामी आँखोंवाली चीनी स्त्री, जो पुराने ढंग के चीनी लंबे स्कर्ट और कमरबंद पहने थी, दाख़िल हुई। मुस्कराहट उसके मास्क जैसे चेहरे पर मानों जड़ दी गई हो। उसमें एक सोने जड़ा दाँत भी चमक रहा था। इस महिला ने बड़ी साज-सँवार से चेहरा रँगा था, भौंहें बड़ी बारीक रँगी थीं और होंठ लाल रंग से पुते थे, कानों में चीनी पुष्पालंकरण के आभूषण थे। कुल जमाकर वह दुकान की मालकिन जान पड़ती थी और दुकान की तरह से ही अद्भुत पुराकालीन सज-धज में वह प्रस्तुत थी।

बातचीत अंग्रेज़ी में शुरू हुई। महिला ने अपना परिचय दिया, "मेहमान का स्वागत! मेरा नाम है वू, वैसे लोग मदाम वू कहते हैं। मैं इस दुकान की मालकिन हूँ। यहाँ मैंने बड़ी खोज-बीन से चीज़ें जमा की हैं। आपको क्या पसंद है?"

अंतर्यामी ने एक बार उसे सिर से पैर तक देखा और बोला कुछ झेंप के साथ, "मैं आपकी दुकान की चीज़ें देखकर बहुत ख़ुश हुआ। मैं चित्रकार हूँ। यहाँ ऐसे ही सैर-सपाटे के लिए आया हूँ।"

"क्या मैं आपकी कुछ ख़ातिर कर सकती हूँ? आप कुछ ठंडा पीएँगे या गर्म? कोकाकोला या लेमन?"

"मुझे कुछ नहीं चाहिए। ठंडा पानी काफ़ी होगा।"

"नहीं...नहीं, आप संकोच क्यों करते हैं!" उसने घंटी बजाई और एक तिब्बती लड़की कांची वहाँ आ पहुँची। मालकिन ने उसे तिब्बती में कुछ कहा और वह फिर चुपके से ग़ायब हो गई।

मालकिन वू ने फिर कुछ और उत्सुकता दिखाई, "आप कैसे चित्र बनाते हैं?"

"मैं एक अख़बार के लिए कार्टून भी बनाता हूँ, पर ज़्यादातर पोर्ट्रेट से मेरा गुज़र चल जाता है। वैसे मुझे पसंद है लैण्डस्केप बनाना।"

"तो आप बहुधंधी हैं।" और वह हलके-हलके हँसी, जैसे किसी यंत्र से संयत, दो-चार इंच हँसी वहाँ ढाल दी गई हो।

"आपको ये चित्र पसंद हैं?" दीवार की ओर दिखाकर वह बोली, "ये तुड-खुआन् की गुफाओं की नक़लें ख़ास तौर से मेरे लिए चीनी आर्टिस्ट ने बनाई हैं। आप इन्हें रोल करके छोटी-सी नली में भी रख सकते हैं। और यह बुद्ध की ध्यानी मुद्रा देखिए।" मदाम वू एक कुशल व्यापारी की तरह अपना माल दिखाती जा रही थी और चित्रकार रे चुपचाप सुन रहा था।

इतने में कोकाकोला आया। तिब्बती लड़की फिर चली गई।

रे ने संकोच से कहा, "आप क्यों इतनी मेहनत करती हैं और ये सब संग्रह के चित्र दिखाती हैं! मैं तो यहाँ सफ़र पर आया हूँ। ख़रीदना नहीं चाहता। ग्याड्-त्से तक जाऊँगा। सिक्किम में कई मनोरंजक मठ हैं। सोचा, गर्मियाँ ऐसे ही काट दूँगा।"

मदाम वू अप्रतिभ होनेवाली स्त्री नहीं थी। वह बड़ी चतुर और ग्राहक के मन को भाँपनेवाली औरत थी। बोली, "अभी देख जाइए। अपने दोस्तों से कहिए। फिर आइए। दुबारा आइए। हमारा समाधान तो आप जैसे जानकार और रसिकों से होता है। यह ज़रूरी थोड़ी है कि हर व्यापार पैसे का ही हो।"

अंतर्यामी ने "हाँ, दुबारा आऊँगा", यह आश्वासन देकर छुट्टी ली।

अंतर्यामी का मित्र डॉक्टर नारायण सारी दुनिया घूम आया था। अपने उग्र विचार के कारण उसकी कहीं बनती नहीं थी। सबसे लड़ता था और अपनी विद्वत्ता की धाक जमाने के लिए लोगों को झूठ ही वताया करता था अतिरंजित कहानियाँ अपनी विदेशी-यात्रा के अनुभवों की। यह आदमी पहली ही भेंट में अपनी वाक्-पटुता से लोगों को आकर्षित करता था। वैसे उसका विषय था प्राचीन भारतीय इतिहास, पर वह अपनी टाँग सब चीज़ों में अड़ाता था। साहित्य, कला, पुरातत्त्व, राजनीति, सब पर धुआँधार बोल सकता था। वैसे उस वक़्त बेकार था और अंतर्यामी जानता था कि पैसे लोगों से माँगकर कभी लौटाया नहीं करता था। अंतर्यामी तो अविवाहित था, पर डॉक्टर नारायण का यह हाल था कि एक बीवी कहीं पड़ी रो रही थी, दूसरी को छोड़ दिया था और स्त्रियों के विषय में कोई प्रामाणिकता उसके शब्दकोश में नहीं थी।

दूसरी बार रे इस अपने इतिहासविद् मित्र को लेकर वू की पुरानी दुकान में पहुँचा, तब बहुत मनोरंजक बातचीत हुई।

वू से रे ने परिचय कराया, "आप हैं डॉक्टर नारायण। पता नहीं किस यूनिवर्सिटी के डॉक्टर हैं, पर सारी दुनिया घूम चुके हैं। सारा दक्षिण-पूर्वी एशिया आपने देखा है—जावा, सुमात्रा, इंडोनेशिया, स्याम, बर्मा, लंका, जापान सब जगह गए हैं।"

वू ने उत्सुकता दरसाई, "आप चीन भी गए हैं।"

नारायण उसी तरह कंधे ऊपर झिंझोड़ते हुए भौंहें सिकोड़कर बोला, "ओह, चीन! स्वर्ग-तुल्य देश है। क्या वहाँ के भोजन! क्या वहाँ की शराबें! क्या वहाँ का ऑपेरा! क्या वहाँ के प्राचीन शिल्प और राजमहल! विशेषण फीके पड़ जाएँ!"

वू ने चेहरा कुछ गंभीर बना लिया, "क्या आप हॉल में गए थे?"

"जी हाँ, मैं विद्यार्थियों के डेलीगेशन में गया था—दसेक साल पहले। आप तो मेनलैण्ड चाइना की नहीं जान पड़तीं!"

वू बोली, "नहीं, अब वह देश तो पराया हो गया। मैं इधर भारत में ही रहती हूँ—दसेक साल से।"

"क्यों उधर कोई रिश्तेदार नहीं?" रे ने पूछा! "होंगे भी, तो कहाँ पता चलता है! मैंने तो अब बुद्ध के देश में ही मरने की प्रतिज्ञा की है!" और वू ने फिर होंठ सी

लिए—पतले-पतले चीनी होंठ जो अपने भीतर बहुत बड़ा रहस्य-सागर छिपाए रखते हैं।

नारायण ने झट से पैंतरा बदला, "तो फिर आप यह इतनी बड़ी दुकान क्यों चलाती हैं? क्या आपके रिश्तेदार यहाँ हैं?" वू बोली, "मैंने एक नेपाली से शादी की थी, जब मैं नेपाल में थी। वह भी चला गया। अब दो लड़कियाँ हैं। उन्हें पाल-पोसकर बड़ा कर रही हूँ। यहीं पढ़ती हैं कॉनवेण्ट में। पर आप मेरे बारे में जानकर क्या कीजिएगा! इस दुकान की कौन-सी चीज़ आपको पसंद आई?"

डॉक्टर नारायण बोले, "वह शेर की शिल्पकृति बहुत अच्छी है। क्या दाम हैं?" "अब आप तो जानकार हैं। आपसे क्या छिपाना है! तीन सौ रुपये मुझे एक टूरिस्ट दे रहा था। उसे नहीं दिया मैंने।"

रे ने मन-ही-मन सोचा, यह भुक्खड़ डॉक्टर कैसे ख़रीदेगा? पर डॉक्टर ने झट से बात जोड़कर कह दी, "बात यह है कि प्रादेशिक म्यूज़ियम के क्यूरेटर मेरे दोस्त हैं। उन्होंने कहा था, जहाँ भी थोड़ी-सी भारतीयता किसी कलाकृति में दिखाई दे, फौरन ख़रीद लो। बिल मैं बाद में दे दूँगा। अब यह शेर की जो अयाल है, यह भुवनेश्वर के शिशिरेश्वर मंदिर के द्वारपाल..."

और नारायण ने पंद्रह मिनट तक एक लेक्चर लकड़ी के, पत्थर के चट्टान में खुदे शेर के बारे में दे डाला। पर मदाम वू विद्वत्ता से प्रभावित होनेवाली स्त्री नहीं थीं। इतने में वू की चंदन की लकड़ी से तराशी हुई-सी लड़की तीं इन स्कूल से आई। और डॉक्टर नारायण ने मदाम वू का हाथ देखना शुरू किया, "आपकी बेटी, बड़ी होनहार निकलनेवाली है। वह किसी भारतीय के साथ शादी करेगी। मैं कहता हूँ, इतनी सुंदर लड़की तो मैंने पूरे चीन में नहीं देखी।"

'धत्' कहने का चीनी में अभिनय कर तीं इन भीतर चली गई। और स्कूली लिबास बदलकर और आकर्षक कपड़ों में वह दुकान में फिर लौट आई। माँ ने कहा, "अब मेरा समय हो गया। यही दुकान को चलाएगी। आप इसके साथ बातें करें।"

अंतर्यामी रे तीं इन का स्केच बनाने लगा और डॉक्टर नारायण उसके साथ मनोरंजक बातचीत में उलझ गया। तीं इन उम्र में छोटी थी पर नए चीन के बारे में काफ़ी-कुछ जानती थी, ऐसा लगता था। संभाषण अंग्रेज़ी में चल रहा था। डॉक्टर नारायण भावोच्छ्वासित ढंग से नए चीन की हर चीज़ की तारीफ़ कर रहे थे। तीं इन कुछ विरोध और कुछ समर्थन कर रही थी। सारा संभाषण दुकान की ऊँची लकड़ी की मेज़ जैसी काउंटर के पास हो रहा था।

यह करीब बीस-पच्चीस मिनट चलता रहा। स्केच देखकर तीं इन बहुत खुश हुई। माँ को दिखाने भीतर ले गई और साथ ही काउंटर की टेबल से एक बक्स जैसी चीज़ भी।

दार्जिलिंग में डॉक्टर नारायण एकाध सप्ताह रहे। इस बीच में वू की दुकान में उनका जाना बहुत नहीं हुआ। एक बार वह तीं इन को एक रेस्तराँ में डिनर के लिए ले गए। वे इन सब कलाओं में पारंगत थे। उनके मुख्य अध्ययन के दो ही विषय थे—प्राचीन इतिहास में देश-विदेश के हिंसा के तरीक़े और कामशास्त्र। इसे छिपाने के लिए वे बड़ा लंबा-चौड़ा दार्शनिक खोल और लबादा अपने आसपास लेकर चलते थे।

अंतर्यामी रे बेचारा सीधा-सच्चा कलाकार था। उसे सौन्दर्य से प्रेम था और वह उसे छिपाता नहीं था। वू की 'एंटीक्विटीज' की दुकान उसे कई सुंदर चीज़ों के कारण पसंद थी। पट-चित्र, शिल्पकृतियाँ, लकड़ी की कामदार चीज़ें, और कभी-कभी मदाम वू की मुस्कराहट। वू की लड़की तीं इन को वह बदमाश समझता था और उससे दूर रहता था। डॉक्टर नारायण से उसने ऐसा कहा भी।

जाने से एक दिन पहले डॉक्टर नारायण रे को लेकर फिर उस दुकान में पहुँचे। दो उद्देश्य थे—ब्रौंज के शेर को किसी तरह हथियाना और तीं इन को सिनेमा ले जाने के लिए अपने साथ सैर पर ले जाना। पर वू उस दिन पता नहीं किस मूड में थीं।

डॉक्टर नारायण ने कहा, "वो आपका शेर मैं म्यूज़ियम में दे दूँगा और आपके मुँहमाँगे दाम आपको मिल जाएँगे। आप भरोसा रखें।"

वू ने उत्तर दिया, "मैं उधार का काम नहीं करती। पहले रुपये रखिए। बाद में यहाँ की कोई चीज़ ले जाइए।"

डॉक्टर नारायण बोले, "नए चीन की मैं प्रशंसा करता हूँ। आपकी लड़की तीं इन को वह क्यों पसंद नहीं, पता नहीं। हर बार वह मुझे इसी बात पर बोलने के लिए उकसाती रहती है। आज की शाम वह ख़ाली हो तो मैं सोचता था सिनेमा घर में वहाँ ऊपर घंटाघर के पास बड़ी अच्छी अंग्रेज़ी पिक्चर लगी है...।"

वू ने तीं इन को बुलाया। "उसी को पूछ लीजिए।" वू ने कहा।

तीं इन ने कहा, "आज शाम तो मुझे पहले ही किसी और जगह जाना है। माफ़ कीजिए।"

डॉक्टर नारायण बोले, "तीं इन, उस दिन तुमने मेरा पर्स जो लिया था...।"

तीं इन ने भोले भाव से कहा, "कब? आपको कुछ भ्रम तो नहीं हुआ?" कहकर वह चली गई। डॉक्टर नारायण ने शेर की तरफ़ हाथ बढ़ाया।

वू ने दृढ़ता से कहा, "वह ब्रौंज का शेर आप मत छुइए। दाम पहले रखिए। दुकान बड़ी मुश्किल से चलती है। ग़रीबी में किसी तरह दिन काटते हैं हम, डॉक्टर नारायण! पर मेरी बेटी तीं इन अब आपके साथ नहीं जाएगी सिनेमा।"

डॉक्टर नारायण दूसरे दिन चले गए। वू की लड़की तीं इन से उनका इश्क़ ज़्यादा चल नहीं पाया। डॉक्टर का पर्स वह उड़ा ले गई थी।

मदाम वू ने पुलिस को इत्तिला किस तरह से दी थी, पता नहीं चला, पर अंतर्यामी रे के घर पर पुलिसवाले ज़रूर पहुँचे थे और डॉक्टर नारायण का अता-पता पूछ रहे थे।

जब रे ने कहा, 'नहीं मालूम' तो पुलिस ने कहा, "हम आपको भी हिरासत में ले लेंगे।"

"क्यों?"

"सुनिए, डॉक्टर ने क्या कहा था?"

एक टेप रेकार्ड पुलिस ने दिखाया, मदाम वू मुखबिर थी और उसकी दुकान में चुपचाप रेकार्ड करने की मशीन भी थी।

रम्य रचना

काठ

काठ छेदने चले सहस-दल की नव पंखड़ियाँ भूले .....,

किसी भौरें के प्रति 'एक भारतीय आत्मा' की एक षट्पदी में यह उक्ति है। सचमुच, आजकल क्या जीवन और क्या साहित्य में रस की कमी देखकर यही जी होता है कि कहें—सब काठ हो गए हैं, काठ! या सुसंस्कृत रीति से कहूँ तो काष्ठ-कीट हो गए हैं।

दो कवि थे। दोनों को बात एक ही कहनी थी कि शहर में एक सूखा पेड़ है। पर एक ने कहा—शुष्कोवृक्षस्त्यष्ठत्यग्रे; दूसरे ने कहा—'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः।' कहने-कहने में फ़र्क़ होता है। एक पार्लमेंटरी ढंग है कि यह कहा जाय— 'माननीय विरोधक महोदय ने मेरे कथन के अभिप्राय को पूर्णतः आत्मसात् नहीं किया है।' दूसरी यह ठेठ शैली है कि कहें— 'विरोधी अमुक-अमुक तो निरा काठ का उल्लू है!' मैं घंटों यह चिन्ता करता रहा हूँ कि यह उलूक महाशय जो माली बन गए, ये 'काठ' के ही क्यों बनाए गए। वैसे उल्लू मिट्टी के, लोहे के, काग़ज़ के भी बनाए या बताए जा सकते थे। पर काठ से क्या विशेष प्रयोजन है? क्या काष्ठ के संपर्क से उसके उल्लूपन में कोई ख़ास इज़ाफ़ा हो जाता है ? कोई भाषा-शास्त्रज्ञ मेरी इस महान जिज्ञासा और शंका का यदि समाधान कर सकें तो महाकृपा होगी।

काठ के साथ दूसरा मुहावरा जो उतना ही प्रचलित है, वह है 'काठ की हाँड़ी चढ़े न दूजी बार'। ऐसा कौन सामान्यज्ञानविरहित (कामनसेन्सलेस) व्यक्ति होगा, जो कि काठ की पहिले तो हाँड़ी बनाए और सो भी जलते काष्ठों पर रख दे। फिर भी कहावत बड़ी अच्छी है। और झूठे के झूठ की पोल, ख़ूब खोलती है।

गत महायुद्ध में जब से विराट् परिमाण में जंगल कटे और जलाऊ लकड़ी या ईंधन की समस्या तीव्रतर होती गयी, तब से काष्ठक (लकड़हारे) भील आदि लोगों की उदर-निर्वाह की समस्या भी तीव्रतर होती गई है। एक वह भी समय था, जब हमारे पुरखे आर्य ऋषि काठ पर काठ रगड़ कर, *अरणि* से अग्नि पैदा कर लेते थे; कंद मूल से निर्वाह चल जाता था। आज तो फ़र्नीचर के दाम भी कितने बढ़ गए हैं? श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित को मास्को के अपने भारतीय राजदूतावास में स्टाकहोम से फ़र्नीचर लाना पड़ा। वैसे देखा जाए तो प्राचीन भारतीय सभ्यता में *फ़र्नीचर* नामक कोई वस्तु

नहीं थी, फिर भी बिना 'रिवाल्विंग चेअर' और बढ़िया सालमारिक (स अलमारी से बना विशेषण) मेज़ के भी व्यास-वाल्मीकि महाकाव्य लिख गए! और आज बेचारे कुमार कवि या लेखक के पास बढ़िया पार्कर है। ग्लेज्ड नोट पेपर है, बिजली का पंखा है और सिर के बालों में छप्पन देशों की सुगंधियों का सार (इसेन्स) वाला *स्नेह* (तेल) है; फिर भी उसकी प्रतिभा है कि छह पंक्ति की तुकबन्दी के आगे बढ़ती ही नहीं? इसका मूल कारण हमारे एक विनोदी मित्र के मतानुसार इन दो-तीन हज़ार वर्षों के बीच जंगलों का कटना है। जब जंगल थे, तब व्यास-वाल्मीकि जटा-जूट-युक्त श्मश्रु-बहुल अपने चेहरे को जंगल की तरह रखते थे; उसके विचार भी मुक्त वायु और विराट कल्पना-तरुओं से सुशोभित रहते। अब जंगल के जंगल झूठ में परिणत होकर, कट कर फैक्ट्री में जा अख़बारी काग़ज़ बनकर, रोज़ सबेरे-शाम तीन-चौथाई झूठ और एक चौथाई सच के मिश्रण को लेकर हमारे सामने आते है! जंगल साफ़ हो गए हैं। चेहरे भी साफ़ और दिमाग़ भी—और जंगलीपन हमारे स्वभाव में आ गया है। लकड़ी के होल्डर से लेकर (जिससे मैं लिख रहा हूँ) बड़ी-बड़ी हमारतों और नौकाओं में भी लकड़ी का, ऐसी कसरत से उपयोग होने लगा है कि सचमुच सभ्यता के लिए कहा पड़ता है कि उसे ख़ासा 'काठ चबाना' पड़ा है!

परंतु काठ का हमारे जीवन से गहरा संवंध है। जन्म पाकर बचपन में काठ के पालने में झूले, मरने पर की काठ पर चढ़ाकर ले गए और काठ में ही जले। देह को संतों ने 'काठ का घोड़ा' यों ही नहीं कहा! कभी-कभी बेचारा कोई गुनाह कर बैठता है और जेलवाले उसे काठ मारते हैं। काठ न होता तो आग नहीं होती और आग न होती तो पाक-कला कैसे विकसित होती! कुछ लोग काठ में से भी रस पैदा कर देते हैं : कठखुदाई (वुडकट) बड़ी कला है। बाँसुरी काठ की ही बनी है, पर गुमान उसके बड़े हैं। एक बाजा काष्ठतरंग कहलाता है। काठ के ये ठाठ हैं।

एक घोड़ा होता है, जिसे काष्ठ-लेखक कहते हैं। पुराने मकानों के खंभों वल्लियों पर अक्सर चित्र जैसे निशान देखे होंगे। एक पुरातत्त्वज्ञ महोदय के बारे में कहते हैं कि उन्होंने एक पुराने काठ पर ऐसे ही निशानों को देख ब्राह्मी लिपि समझ उसे पढ़कर इस काष्ठ-लेख के सहारे डॉक्टरेट प्राप्त की। बाद में पता लगा कि वह लेख-वेख कुछ नहीं, दीमक की खाई लकड़ी थी!

काठ चीरना भी बड़ी कला है। इस कला ने भी बड़ी प्रगति कर ली है। यहाँ तो हवाई जहाज़ के साथ बैलगाड़ी भी दिखाई देती है। कहीं-कहीं आज भी आराकश एक ऊपर और एक नीचे बैठा आरा चलाते दिखाई दे जाते हैं। उन्हें देख मुझे सदा ईसप (पंचतंत्र के भी) उस बंदर की याद हो आती है, जो एक चिरे काठ में लगी कील उखाड़ने गया और उसकी दुम उसमें फँस गयी। परंतु आजकल जो कला सिखाई जाती है, उसमें काठ की पेंसिल से, काठ के चौकोर या तिकोनी गट्टों (ब्लाक) के चित्र बनाना सिखाया जाता है! कला भी बेचारी काठमारी-सी हो गई है।

काठ का शिक्षा से भी गहरा संबंध कभी था, जब कि गुरु और छड़ी का निकट संबंध था। छड़ीहीन गुरु खोजे नहीं मिलता था। आज तो यह है कि दंगों के दिनों में करफ़्यू में लकड़ी ले जाने के ख़िलाफ़ इतनी कड़ाई थी कि डी.एफ़. कराका अपनी पुस्तिका *लेट फ्रीडम नाट स्टिक* में लिखते हैं कि बंबई के उनके एक मजिस्ट्रेट दोस्त को टहलने की लकड़ी भी ले जाने के लिए सरकारी इजाज़त हासिल करनी पड़ी। चार्ल्स लैंब ने साहित्य की बड़ी अच्छी परिभाषा दी है—साहित्य बैसाखी नहीं; टहलते समय की छड़ी है। (लिटरेचर इज नाट ए क्रच बट ए वॉकिंग स्टिक!)

इस छड़ी के विषय में एक संस्कृत कवि ने सुंदर श्लोक पद कहा है :

या पाणिग्रहलालिता सुसरला तन्वी सुवन्शोद्भवा
गौरी स्पर्शसुखावहा घुणवती नित्यं मनोहारिणी।
सा केनापि हृता तया विरहितो गंतुं न शक्तोऽस्म्यहं.....

(जिसका हाथ पकड़कर मैंने प्रेम किया; जो सरला थी, दुबली-पतली थी, अच्छे वंश में उत्पन्न हुई थी, गुणवाली, उजली, छूने में सुखदा थी, मन हरनेवाली थी—उसे हाय, किसी ने चुरा लिया। उसके बिना चलने में मैं असमर्थ हूँ....)

काठ की और चीज़ें अपने दैनिक जीवन में हम काम में लाते हैं। रेलगाड़ी काठ की बनी होती है। वैसे ही बैलगाड़ी के सब पहिये भी और चरख़े पर, जो काठ ही का बना रहता है, यह उक्ति देखिए :

रे रे यंत्रक ! मा रोदी क कं न भ्रमयंत्यमूः ।
कटाक्षाक्षेपमात्रेण कराकृष्टस्य का कथा ।।

(मियाँ चरख़े! रो क्यों रहे हो? जानते नहीं, किसके हाथ पड़े हो! ये तो वे सुंदरियाँ हैं, जो अपने कटाक्ष-मात्र से सबको घुमा डालती हैं। फिर तुम तो उनके करों से आकृष्ट हो, तुम्हारी क्या कथा ?)

प्राचीन काल में जब आदमी कम अक़्लमंद था और अणु-रहस्य पर समितियाँ नहीं बैठती थीं, किसी युद्ध में क़िले के दरवाज़े तोड़ने के लिये बड़े-बड़े काठ के लट्ठों से काम लिया जाता था। काठ के घोड़े में यूनानी सिपाहियों को छिपाने की युक्ति यूलिसिस काम में लाया था। कई शस्त्रास्त्र काठ के होते थे। धनुष और बाण लकड़ी के बने होते हैं; परन्तु दोनों के स्वभाव के अंतर पर संस्कृत कवि की अनूठी उक्ति देखिए :

कोटिद्वयस्य लाभेऽपि ननं सद्वंशतं धनुः ।
असद्वंश्यः शरः स्तब्धो लक्षलाभार्भिकाङ्क्षया ।।

अर्थात् 'हानि-लाभ दो ही छोरों (अंतों) के मिलने पर अच्छे वंश (बांस) में उत्पन्न होनेवाला धनुष नम्र हो गया है। नीच वंश में उत्पन्न होनेवाला बाण लक्ष (निशाना और लाख रुपये) पाने की इच्छा से ज्यों-का-त्यों निश्चल खड़ा है!' धनुष चलाते वक्त बाण नहीं नमता, प्रत्यंचा नमती है। नीच और ऊँच में यही स्वभाव का अंतर होता है। ऊँचा अपनी ग़लती क़बूल करता है, नीच कभी नहीं। यह तना का तना रहता है। 'रहे काठ के काटे !'

'काठ' पर यह लेख जब एक दोस्त को सुनाया, बोले– 'ट्रैश' (कूड़ा) है, जला देने लायक़ है; क्योंकि हमारे मित्र महागंभीर प्रकृति वाले हैं। आधुनिक साहित्य में *ब्रिलियंट नांसेंस* जैसी शैली में कुछ परिहास-निबंध लिखे जाते हैं, यह बात वे नहीं जानते। वे परिहास नहीं समझते। तब मैं बोला--जला-ओगे किससे? दियासलाई से ही न ? और वह सींक बनाने में भी आख़िर क्या लगा है? वही उत्तर फिर लौटकर आया–'काठ!'

परिशिष्ट : II

जीवन की प्रमुख घटनाएँ

1917	26 दिसंबर को ग्वालियर में जन्म। पिता बलवंत विट्ठल माचवे और माता लक्ष्मीबाई की चौदहवीं और अंतिम संतान
1930	दरबार हाईस्कूल, रतलाम (मध्य प्रदेश) से मैट्रिक और हिन्दी विशारद
1934	क्रिश्चियन कॉलेज, इंदौर से बी. ए.
1934	प्रथम कविता *कर्मवीर* में, रेखाचित्र भी। प्रथम मराठी कविता *काव्य-रत्नावली* में
1934	कांग्रेस के अड़तालीसवें अधिवेशन में बंबई में उपस्थित; वहीं प्रथम कांग्रेस समाजवादी परिषद् में उपस्थित
1935	इंदौर मराठी साहित्य-सम्मेलन में 'साहित्यातील ललितकला भाव' (35 पृष्ठ) निबंध पढ़ा। प्रेमचंद ने पहली कहानी *हंस* में छापी।
1936	आगरा कॉलेज, आगरा से एम. ए. (दर्शन) ना. प्र. सभा, आगरा से 'साहित्यरत्न'
1937	'निराला' ने पहला लेख *सुधा* में छापा। महादेवी ने एक कहानी 'चाँद' में
1937	राष्ट्रीय मज़दूर संघ, इंदौर के मंत्री। संपादित *जैनेन्द्र के विचार* का प्रकाशन
1938-48	माधव कॉलेज, उज्जैन में अंग्रेज़ी व दर्शन के प्राध्यापक
1938	*विशाल भारत* में 'अज्ञेय' ने 'दो इम्प्रेशनिस्ट कविताएँ' छापीं
1940	आकाशवाणी दिल्ली से प्रथम वार्ता
1939	महात्मा गाँधी से सेवाग्राम में प्रथम भेंट
1940	8 नवंबर को सेवाग्राम में महात्मा गाँधी के निरीक्षण में शरद पारनेरकर के साथ विवाह
1943	अंग्रेज़ी साहित्य में एम. ए.
1943	*तार-सप्तक* में कविताएँ। *संगीनों का साया* कहानी-संग्रह
1948	राहुल सांकृत्यायन के साथ *शासन शब्दकोश* का संपादन
1948	पुत्र असंग का नागपुर में जन्म, निधन 1996 में दिल्ली में

1948	उज्जैन की अध्यापकी छोड़कर आकाशवाणी नागपुर में नौकरी
1950	पुत्री चेतना का इलाहाबाद में जन्म
1954	आकाशवाणी के नागपुर, इलाहाबाद, केन्द्र और विदेश प्रसार सेवा दिल्ली में छह वर्ष कार्य के बाद त्यागपत्र
1954	साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली में सहायक सचिव के रूप में नियुक्ति
1958	'हिन्दी मराठी निर्गुण संत काव्य' पर आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच. डी.
1959-61	अमेरिका के दो विश्वविद्यालयों—विसकान्सिन तथा कैलिफ़ोर्निया में अतिथि प्राध्यापक। हिन्दी, भारतीय साहित्य, गाँधी दर्शन का अध्यापन।
1961	अमेरिका से लौटते हुए तीन माह में यूरोप के 13 देशों की यात्रा
1963	श्रीलंका में दो विश्वविद्यालयों में व्याख्यान, यात्रा
1964-66	संघ लोक सेवा आयोग में विशेष भाषाधिकारी नियुक्त
1969	पश्चिम जर्मनी में निमंत्रण पर डेढ़ माह यात्रा
1971-75	साहित्य अकादेमी के सचिव।
1971-72	*टालस्टाय और भारत* पर 'सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार'। रूस और बल्गारिया की यात्रा
1973	बाङ्लादेश की यात्रा
1976-77	भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में मानद फ़ेलो
1978	क. मा. भाषा विज्ञान संस्थान, आगरा में तीन मास अतिथि प्राध्यापक; पुनः कश्मीर विश्वविद्यालय में तीन मास अतिथि प्राध्यापक
1979-85	भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता में निदेशक। *संदर्भ भारती* के संपादक
1981	वर्षान्त में जापान, हाँगकाँग, थाईलैण्ड की जापान फ़ाउंडेशन के निमंत्रण पर यात्रा (सपत्नीक)
1983	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कुरुक्षेत्र अधिवेशन में 'साहित्य वाचस्पति' उपाधि से विभूषित
1984	हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद में हिन्दी आलोचना पर व्याख्यान
1984	नेपाल यात्रा
1985	वृंदावन शोध-संस्थान में एक मास संचालक

1986 पूर्णतः सेवानिवृत्त, अपने निवास (ई-180, ग्रेटर कैलाश-2, नई दिल्ली-110048) में अध्ययन-लेखन में व्यस्त

1987 ग्रीष्म में मॉरीशस सरकार के निमंत्रण पर एक मास यात्रा

1988 *चौथा संसार* (इंदौर) दैनिक के संस्थापक संपादक

1991 17 जून इंदौर में हृदयाघात से देहांत।

प्राप्त सम्मान

1972 सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार

1977 षष्ठिपूर्ति पर हरिद्वार में *अक्षर अर्पण* ग्रंथ

1983 'साहित्य वाचस्पति'

1985 उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान से रु. 21,000 का सम्मान-पुरस्कार

1985 मित्र परिषद्, कलकत्ता से रु. 11,000 का पुरस्कार

1987 दिल्ली हिन्दी अकादेमी का साहित्यकार सम्मान

1990 *विश्वकर्मा* खंडकाव्य पर विहार राष्ट्रभाषा परिषद तथा हिन्दी अकादेमी का पुरस्कार

1990 अखिल भारतीय अंग्रेज़ी हटाओ सम्मेलन, इंदौर के स्वागताध्यक्ष

प्रकाशित ग्रंथ

मौलिक लेखन (हिन्दी)

उपन्यास

1. *परंतु* : प्रगति प्रकाशन; 1951
2. *द्वाभा* : हिन्दी भवन, इलाहाबाद; 1952
3. *एकतारा* : चेतना प्रकाशन हैदराबाद; 1951; हिन्दी प्रचारक, वाराणसी; कल्पना कार्यालय, हैदराबाद; 1958
4. *साँचा* : (पुनः) हिन्दी प्रचारक, वाराणसी, 1964; पुनः साहित्य निधि 1987, किताबघर, दिल्ली-1986
5. *जो* : भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 1965
6. *किशोर* : कृष्ण प्रकाशन, अजमेर; 1969
7. *तीस-चालीस-पचास* : राजपाल, दिल्ली; 1973
8. *दर्द के पैवन्द* : हिन्दी भवन, इलाहाबाद; 1974
9. *किसलिए* : राजपाल, दिल्ली; 1975
10. *द्यूत* : राजपाल, दिल्ली; 1976
11. *लक्ष्मीबेन* : राजपाल, दिल्ली; 1976
12. *कहाँ से कहाँ* : पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली; 1978
13. *दशभुजा* : विभूति प्रकाशन, दिल्ली; 1981
14. *आँखें मेरी, बाक़ी उनका* : विभूति प्रकाशन, दिल्ली; 1983
15. *लापता* : राजपाल, दिल्ली; 1984
16. *अनदेखी* : राजपाल, दिल्ली

एकांकी

1. *गली के मोड़ पर* : दत्त ब्रदर्स, अजमेर; 1960; (पुनः) किताबघर, 1988

कविता-संग्रह

1. *तार-सप्तक-1* : भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 1943, 1963, 1966, 1972 (छह अन्य कवियों के साथ कविताएँ); पुनर्मुद्रण 1981, 1995, 1998
2. *स्वप्न-भंग* (सॉनेट) : हिन्दी भवन, इलाहाबाद; 1955
3. *अनुक्षण* : भारतीय ज्ञानपीठ; 1958
4. *मेपल* : भारतीय ज्ञानपीठ; 1963
5. *विश्वकर्मा* (खंडकाव्य) : भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ : 1988
6. *जहाँ शब्द है* : माचवे प्रकाशन, दिल्ली
7. *मुक्तधारा* : माचवे प्रकाशन, 1995

कहानी-संग्रह

1. *संगीनों का साया* : इंदौर; 1943 (अप्राप्य)

जीवनी

1. *छत्रपति शिवाजी* : सोमैया पब्लिकेशन प्रा. लि., बम्बई; 1975

दर्शन

1. *विभिन्न धर्मों में ईश्वर कल्पना* : बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना; 1974
2. *आधुनिक भारतीय विचारक* : बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना; 1976

बाल-साहित्य

1. *असम* : 1957
2. *केरल* : 1957
3. *महाराष्ट्र* : 1957
4. *आदिवासी बच्चे* : राजपाल, दिल्ली
5. *पाँच उँगलियाँ : मुट्ठी एक*
6. *बालकविताएं*

यात्रा-वर्णन

1. *गोरी नज़रों में हम* : रामलोचन पॉकेट बुक, पटना; 1964
2. *रूस में* : हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी; 1976 (पुरस्कृत)

व्यंग्य

1. *ख़रगोश के सींग* : नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद; 1950
2. *बेरंग* : नव साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली; 1956
3. *तेल की पकौड़ियाँ* : भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 1963
4. *विसंगति* : भारती भण्डार, इलाहाबाद; 1984
5. *ख़बरनामा* : कृष्ण ब्रदर्स, अजमेर (यंत्रस्थ)

शब्दचित्र-रेखाचित्र

1. *शब्द-रेखा* : विभूति प्रकाशन, दिल्ली; 1980

शोध-प्रबंध

1. *हिन्दी और मराठी निर्गुण सन्त काव्य* : चौखंभा, वाराणसी; 1963

आलोचना

1. *नाट्य-चर्चा* : हिन्दी विद्यापीठ, देवघर; 1951
2. *हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ* : राजकमल, नई दिल्ली; 1952
3. *हिन्दी पद्य की प्रवृत्तियाँ* : राजकमल, नई दिल्ली; 1952
4. *हिन्दी निबंध* : राजकमल, नई दिल्ली; 1952
5. *व्यक्ति और वाङ्मय* : साहनी प्रकाशन; 1952
6. *समीक्षा की समीक्षा* : साहनी प्रकाशन; 1952
7. *मराठी और उसका साहित्य* : साहित्य सहकार, नई दिल्ली; 1952
8. *हिन्दी साहित्य की कहानी* : ओरियंटल बुक डिपो, नई दिल्ली; 1954
9. *संतुलन* : आत्माराम एंड संस, दिल्ली; 1954
10. *कबीर* : साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली; 1954
11. *केशवसुत* : साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली; 1958
12. *भारत और एशिया का साहित्य* : कृष्ण प्रकाशन, अजमेर; 1969
13. *हिन्दी ही क्यों तथा अन्य निबंध* : पारिजात प्रकाशन, पटना; 1981

14. *मराठी साहित्य का इतिहास* : उ. प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ
15. *राहुल सांकृत्यायन* : साहित्य अकादेमी; 1980
16. *मैथिलीशरण गुप्त* : राजपाल एंड संस; 1987
17. *बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'* : राजपाल एण्ड संस, 1987
18. *राहुल सांकृत्यायन*, राजपाल; 1987
19. *माखनलाल चतुर्वेदी* : राजपाल, 1988
20. *अज्ञेय* : राजपाल; 1988
21. *हिन्दी आलोचना : अतीत और वर्तमान*, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद; 1988

अन्य

1. *सौ सवाल एक जवाब* : राजपाल, दिल्ली; 1969
2. *मराठी लोक कथाएँ* : आत्माराम एंड संस, दिल्ली; 1969
3. *सीखिए-पढ़िए 15 भाषाएँ* : स्टार पॉकेट बुक, दिल्ली; 1976
4. *नमक आंदोलन* : प्रकाशन विभाग, दिल्ली; 1986
5. *गाँधी के आश्रम में* : एन. सी. ई. आर. टी., दिल्ली; 1991
6. *गाँधीजी और भारतीय साहित्य*

मराठी ग्रंथ

1. *मालविका* (कविता); 1934
2. *मराठी सुनीत* (कविता); 1936
3. *क्षिप्रेकाठील हिरवल* (कहानी); 1938
4. *चरित्र, आत्मचरित्र आणि टीका* (समीक्षा); 1939
5. *त्याग-पत्र* (भूमिका); 1939
6. *कल्कि* (अनुवाद); 1958
7. *तब चरणीं ही अंजली* (कविता); 1970
8. *हिन्दी कथा* (अनुवाद); 1973 (एन. बी. टी.)
9. *पंजाबी कथा* (अनुवाद); 1973 (एन. बी. टी.)
10. *चिदंबरा* (सुमित्रानंदन पंत की कविताओं का अनुवाद) : भारतीय ज्ञानपीठ; 1969
11. *जगजीवन राम : व्यक्ति आणि विचार* (मूल्यांकन); 1973

12. *सुब्रह्मण्य भारतीच्या कविता* (अनुवाद); तमिल संगम, कलकत्ता; 1983
13. *मरुभूमिचा मेघ* (अनुवाद); कलकत्ता; 1987

अंग्रेज़ी ग्रंथ

1. *उल्का* (वि.स.खांडेकर का मराठी से); 1950
2. *केशव सुत* : साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली; 1967
3. *कबीर : साहित्य अकादेमी*, नई दिल्ली; 1968
4. *नामदेव : लाइफ़ एंड पोएट्री* : पंजाबी यूनिवर्सिटी; 1969 (पंजाबी में अनुवादित)
5. *हिन्दी शार्ट स्टोरीज* : जायको; 1973 (संपादित)
6. *ईस्ट वर्सेस वेस्ट इन फ़िलॉसफ़ी एंड लाइफ़* : पूना यूनिवर्सिटी; 1974 (रानडे लेक्चर्स)
7. *फ़ोर डिकेड्स ऑफ इंडियन लिटरेचर* : चेतना पब्लिकेशन, नई दिल्ली; 1976
8. *बुद्धिज्म इन इंडिया एंड सीलोन* : चेतना पब्लिकेशन, नई दिल्ली; 1976 (संपादन)
9. *मॉडर्न इंडियन पोएट्री* (अनुवाद) : आई. सी. सी. आर, नई दिल्ली; 1976
10. *प्राबल्म्स ऑफ़ इंडियन लिटरेचर* : स्टैटिस्टिकल इंस्टीट्यूट, कलकत्ता; 1976
11. *तुकाराम्स पोएम्स* : युनाइटिड राइटर्स, कलकत्ता; 1976
12. *हिन्दुइज़्म-इट्स कंट्रीव्यूशन टू साइंस एंड सिविलाइजेशन* : विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली; 1979
13. *मार्निंग एंबर्स* : मराठी से कवितानुवाद; 1979
14. *लिटररी स्टडीज एंड स्केचेज* : युनाइटेड राइटर्स, कलकत्ता; 1979
15. *माडर्निटी एंड कंटेमपोरेरी इंडियन लिटरेचर* : चेतना पब्लिकेशन, नई दिल्ली; 1977
16. *रिनेसांस इन इंडियन लिटरेचर* : युनाइटेड राइटर्स, कलकत्ता; 1979
17. *फ्राम सेल्फ़ टू सेल्फ़* (आत्मकथा) : विकास पब्लिशिंग हाउस; 1976 (अप्राप्य)

18. *राहुल सांकृत्यायन* : साहित्य अकादेमी, 1981
(कई ग्रंथ और रचनाएँ देशी-विदेशी अनेक भाषाओं में अनुवादित)
19. *लिंक्स*

हिन्दी अनुवाद

1. *क्या हम भूखों मरें?* : गाँधी आश्रम, पटना; 1944
2. *उल्का* (वि. स. खाण्डेकर का मराठी से) रा. ज. देशमुख, कोल्हापुर, 1950
3. *शांति के लिए अणु* (सोवियत रूस के लिए) 1956
4. *बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष* : प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली; 1956
5. *भग्नमूर्ति* (मराठी से) : साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली; 1958
6. *आज का भारतीय साहित्य : साहित्य अकादेमी,* राजपाल, दिल्ली; 1958
7. *लद्दाख की छाया में* (भवानी भट्टाचार्य का उपन्यास अंग्रेज़ी से) : राजपाल, दिल्ली; 1966
8. *सात यूगोस्लाव कहानियाँ : साहित्य अकादेमी,* नई दिल्ली; 1958
9. *खुली नौका और अन्य कहानियाँ* (अमेरिका के लिए)
10. *पुण्यकोटि गौ की कहानी* (कन्नड से) : कृष्ण प्रकाशन : 1969
11. *टालस्टाय और भारत* : साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली; 1969
12. *अवलोकिता* (मराठी से) भारतीय ज्ञानपीठ, 1971
13. *नामदेव* (मराठी से) : साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली; 1970
14. *रानडे* (मराठी से) : प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली; 1971
15. *ब्राह्मण कन्या* (मराठी से) : नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली; 1971
16. *अस्तित्ववाद* : म. प्र. ग्रंथ अकादेमी, भोपाल; 1974
17. *सहयात्रा और 'लिंक्स'* : राजपाल एंड संस, 1987
18. *आज़ादी* (चमन नाहल का उपन्यास अंग्रेज़ी से) 1988 साहित्य अकादेमी
19. *जवाहरलाल नेहरू : एक जीवनी,* सर्वपल्ली गोपाल (अंग्रेज़ी से), साहित्य अकादेमी 1999

संपादित-ग्रंथ

1. *जैनेन्द्र के विचार* : पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली; 1937
2. *शासन साहित्य कोश* : हिं. सा. सम्मेलन; 1948

3. *गाँधी शतदल* : प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली; 1969
4. *बारह क़दम* (कहानी संग्रह) : मैकमिलन, नई दिल्ली; 1971
5. *आदर्श पद्य-संग्रह* : अलॉइड, नई दिल्ली; 1971
6. *आदर्श गद्य रचना* (कहानी संग्रह) : अलॉइड, नई दिल्ली; 1971
7. *रेती के रात-दिन* : राजस्थान शासन, शिक्षा मंत्रालय, जयपुर; 1984
8. *शतदल* (कविता संकलन) : भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता; 1980
9. *भारतीय संस्कृति* (दो खण्ड) : भारतीय संस्कृति संसद, कलकत्ता 1984
10. *भारतीय उपन्यास कथासार* (दो खण्ड) : भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता; 1983
11. *वाद और सिद्धांत,* मित्र परिषद् 1983
12. *मैत्री और सेवा,* मित्र परिषद् 1985
13. *भारत* : 2001, मित्र परिषद्, कलकत्ता, 1987
14. *राहुल स्मृति* : पी. पी. एच., दिल्ली, 1987
15. *धर्म, दर्शन, संस्कृति* : भारतीय संस्कृति संसद, कलकत्ता (यंत्रस्थ)
16. *सहयात्रा* : भारत-भाषी ग्रंथ : राजपाल

प्रभाकर माचवे पर लिखित ग्रंथ

1. *अक्षर अर्पण* (डॉ. प्रभाकर माचवे का सारस्वत समादर) : संपादक—कमलकांत बुधकर, शिव जायसवाल, प्रकाशक—आयास प्रकाशन, हरिद्वार, 1977
2. *डॉ. प्रभाकर माचवे के उपन्यास* : डॉ. कृष्णा रैणा; विभूति प्रकाशन, दिल्ली
3. *डॉ. प्रभाकर माचवे की कविता* : प्रो. जोगेन्द्र सिंह, हिमाचल विश्वविद्यालय, शिमला
4. *डॉ. प्रभाकर माचवे* : प्रतिनिधि रचनाएँ; संपादक : डॉ. कमल किशोर गोयनका; साहित्य निधि, 1985
5. *प्रभाकर माचवे* : सौ दृष्टिकोण, संपादक : मारुतिनन्दन पाठक, पारमिता प्रकाशन, 1988,

बहुभाषाविद् भाषाओं के सेतु, कवि, कथाकार, निबंधकार, आलोचक, अनुवादक **डॉ. प्रभाकर माचवे** (1917-1991) का व्यक्तित्व एवं कृतित्व कई पीढ़ियों के साहित्यकारों को प्रेरणा देता रहा है। *तारसप्तक* के कवि माचवे, मुक्तिबोध और अज्ञेय के गहरे मित्रों में से थे। साहित्य अकादेमी की स्थापना से लेकर सत्तर के दशक तक माचवे इसके उपसचिव और सचिव की हैसियत से जुड़े रहे। साहित्य अकादेमी की अनेक कार्ययोजनाओं को मूर्त्त रूप देने में उन्होंने सक्रिय भूमिका निभाई। प्रभाकर माचवे ने अपने साहित्यिक व्यक्तित्व की छाप अनेक भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों पर छोड़ी है। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक उनके अनुयायियों और प्रशंसकों की लंबी सूची है। उन्होंने अपने बहुविध एवं सक्रिय व्यक्तित्व से भारतीय भाषाओं के अनेक रचनाकारों को साहित्य सृजन के लिए प्रोत्साहित किया। भारतीय भाषा परिषद्, कोलकाता के संस्थापक निदेशक की हैसियत से भी उन्होंने उल्लेखनीय साहित्य सेवाएँ कीं।

इस विनिबंध के लेखक **राजेन्द्र उपाध्याय** (जन्म 20 जून 1958) कवि, कथाकार, समीक्षक, व्यंग्यकार और टिप्पणीकार हैं। हिन्दी अकादमी दिल्ली से पुरस्कृत राजेन्द्र उपाध्याय फिलहाल आकाशवाणी दिल्ली के समाचार सम्पादक हैं। उन्होंने नाटककार विजय तेंडुलकर पर एक पुस्तक का संपादन किया है और कुछ छिटपुट अनुवाद भी किए हैं।

ISBN : 81-260-1912-3

मूल्य : पच्चीस रुपये